सूरज प्रश्न

"स्वामी सत्यभक्त"

॥=)

प्रकाशक—
रघुनन्दनप्रसाद विलीस
मंत्री– सत्याश्रम वर्धा

सत्याश्रम वर्धा [सी. पी.]
११९४५ इ. सं.

मूल्य ॥।=)

मुद्रक—
शरच्चन्द्र मथुर
मैनेजर सत्येश्वर प्रिं. प्रेस

प्रस्तावना

प्रिय सूरजचन्द मेरे पास वर्षों रहे हैं और आज दूर रहकर भी दिल से दूर नहीं हैं। सत्यसमाज के साहित्य का अध्ययन उनका गम्भीर है, उनसे अधिक इस साहित्य का अध्ययन किसी ने किया हो ऐसे व्यक्ति को मैं नहीं जानता। उनने बहुत दिन पहिले कुछ प्रश्न भेजे थे। प्रश्न मुझे अच्छे लगे क्योंकि उनसे कई नई बातों पर प्रकाश डालने का अवसर मिला। कुछ प्रश्नों का उत्तर संगम में भी निकला पर स्थानाभाव से कुछ का न निकल सका। प्रश्नोत्तर इतने अच्छे मालूम हुए कि उन्हें एक अलग पुस्तक के रूप में छपाना जरूरी मालूम हुआ, और प्रश्न इतने महत्वपूर्ण थे कि प्रश्नकर्ता के नामपर ही पुस्तक का नाम सूरज-प्रश्न रक्खा। निःसन्देह पुस्तक के नामकरण में वत्सलता या स्नेह भी कारण था।

सो वह पुस्तक बहुत दिनों में किसी तरह छपकर तैयार हुई है। कागज की दुर्लभता के कारण आश्रम में बने हुए ऊबड़-खाबड़ कागज पर छपकर ही वह तैयार हो रही है, पर पाठक इस आपद्धर्म को दर गुजर करेंगे।

इस पुस्तक को सत्यामृत का एक परिशिष्ट या पूरक अध्याय कहा जा सकता है।

२५-५-४५ —सत्यभक्त

विषय-सूची

सूरज-प्रश्न

(१)

प्रश्न--सत्य और शिवकी अपेक्षा हमें सुन्दर ही प्रिय क्यों लगता है ?

उत्तर--सत्य अनंतकाल-व्यापी महाकाल है उस का पूर्ण दर्शन तो असम्भव है पर उस के साधारण दर्शन के लिये भी अमुक अंश में त्रिकालदर्शी होना पड़ता है अर्थात् आगे पीछे की और वर्तमान की अवस्थाओं का दर्शन करना पड़ता है ! यह काफ़ी कठिन है और इसे बहुत कम लोग पासकते हैं।

शिव सत्य का एक अंश है, भविष्य अंश है, बड़ा अंश है। काफ़ी दूरदर्शी लोग ही इस का अर्थात् सत्य के इस अंश का

दर्शन कर पाते हैं सत्य-दर्शन के बराबर तो यह दुर्लभ नहीं है फिर भी कठिन है इस का दर्शन पानेवाले भी अधिक नहीं हैं।

सुन्दर भी सत्य का एक अंश है वर्तमान अंश है बहुत छोटा अंश है, इतना छोटा कि उस के दर्शन को सत्य दर्शन नहीं कह सकते। यह बहुत स्थूल है इस का दर्शन चमड़े की आँखें भी--अर्थात् इंद्रियाँ भी--कर सकती हैं। जन साधारण को यही सुलभ है।

जन साधारण को सुन्दर ही क्यों प्रिय लगता है इस का कारण यह है कि जन साधारण सुन्दर का ही दर्शन कर पाते हैं शिव और सत्य का दर्शन उन्हें नहीं होता।

जन साधारण को किसी भी विषय में सत्य का या शिव का दर्शन नहीं होता सो बात नहीं, मामूली मामलों में उसे सत्य शिव का दर्शन भी होता है पर चूंकि वे मामूली बातें हैं इसलिये उस विषय का सत्य-शिव-दर्शन उल्लेखनीय महत्व नहीं रखता।

कुछ उदाहरणों से ये सब बातें स्पष्ट होंगी।

एक आदमी बीमार है पर हर दिन मिठाइयाँ और चटपटी चीज़ें खाता है। फल यह होता है कि हर दिन उसे बुखार चढ़ आता है। वह मिठाई खाते समय उस बुखार के दर्शन नहीं कर पाता है जो उस स्वाद-लोलुपता के कारण हर दिन चढ़ आता है इस प्रकार वह अपनी दृष्टि-विकलता के कारण सुन्दरदर्शी तो है पर शिवदर्शी नहीं है

एक दूसरा रोगी है जो समझता है कि इस समय अगर मैं स्वाद-लोलुप बनूंगा तो मारा जाऊंगा। वह कुनैन या नीम खाने से

नहीं डरता है, सूखा खाता है या अनशन करता है वह जानता है कि नीरोग होने पर आज से कई गुणा स्वादिष्ट भोजन कर सकूंगा। इस प्रकार सुन्दर दर्शन तो वह भी है पर उस का दर्शन इतना व्यापक हो गया है कि वह शिव बन गया है।

पर यह शिवदर्शी ही होने से चिकित्सा-पद्धति तो सीख जाता है मर स्वास्थ्य-पद्धति नहीं सीख पाता। वह बीमार होने पर चिकित्सा तो कर लेता है पर बीमार ही न पड़ूं इस की योजना नहीं करता क्यों कि यह सत्यदर्शी नहीं है। सत्यदर्शी बीमारी के बाद का ही नहीं पहिले का भी दर्शन करता है।

यह सत्य-दर्शन शिव-दर्शन और सुन्दर-दर्शन का रूप बताने के लिये उदाहरण मात्र है। पर इस उदाहरण का शिवदर्शी या सत्य-दर्शी इतने प्रमाण में शिवदर्शी या सत्यदर्शी नहीं है कि उसे इस नाम से पुकारा जाय। यों जीवन की मामूली बातों में हर एक आदमी शिवदर्शी सत्यदर्शी होता है।

साधारण आदमी भी स्वादिष्ट विष नहीं खाता वह इतने अंश में शिवदर्शी है ही। इस प्रकार मनुष्य हजारों बातो में शिव-दर्शी सत्यदर्शी हो गया है। पर मनुष्य सरीखे विकसित प्राणी के लिये इतना शिवदर्शन और सत्यदर्शन पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

सत्यदर्शी और शिवदर्शी वही कहा जा सकता है जो विश्व के—समाज के—सार्वत्रिक और सार्वकालिक हित को देख सकता है। यह विशाल दीर्घ और सूक्ष्म दृष्टि जन साधारण को अभी प्राप्त नहीं है इसलिये यह सुन्दर में फँस कर बह जाता है और शिव सत्य के भीतर भरे हुए विशाल और स्थिर सौन्दर्य के दर्शन

नहीं कर पाता । फल यह होता है कि उस की तराजू के एक पॅलड़े पर जितना सौन्दर्य आता है दूसरे पलड़े पर उस से कई गुणा असौन्दर्य आजाता है जिसे वह दुर्भाग्य के नाम पर सहता है ।

अगर मनुष्य की दृष्टि विशाल हो जाय वह आगे पीछे देखना भी अच्छी तरह सीख ले तो वह सत्य शिव को छोड़ कर सुन्दर की चाह न करे । वह सत्य शिव में ही असीम सुन्दर के दर्शन करने लगे ।

(२)

प्रश्न—क्या दुःख के बिना भी जीवन में रस मिल सकता है ;

उत्तर—दुःख तीन तरह का होता है । भूमि-दुःख बीज-दुःख फल-दुःख । भूमि दुःख वह है जो सुख का आधार बन जाता है । जैसे खाने का आनन्द तभी आता है जब अच्छी भूख लगी हो । तो भूख का दुःख भूमि-दुःख है यह भोजन सुख का आधार है ।

बीज-दुःख वह है जो सुख का उत्पादक है जैसे मिहनत करने का दुःख बीज-दुःख है ।

फल-दुःख वह है जो किसी कार्य का फल तो है पर जो किसी सुख का कारण नहीं है । जैसे बीमारी आदि के कष्ट ।

इन तीन दुःखों में भूमि-दुःख के बिना तो रस को आधार ही नहीं मिलता इसलिये यह तो जरूरी ही है । और बीज-दुःख भी जरूरी है क्यों कि उस के बिना रस-सामग्री नहीं मिलती । बाकी फल-दुःख ही दये है । पर उस से बचने का उपाय उस के

कारणों को दूर करना है।

ऐसा मनुष्य आज तक पैदा नहीं हुआ जिस के जीवन में किसी न किसी तरह का फल-दुःख न रहा हो। इसलिये उसे यथाशक्य कम ही किया जा सकता है बिलकुल हटाया नहीं जा सकता।

हां! योगी मनुष्य या जीवन कला में चतुर मनुष्य फल-दुःख को भी बीज-दुःख बना सकता है जैसे कोई दंड के दुःख को प्रायश्चित्त के नाम में परिवर्तित करले।

बीज-दुःख और भूमि-दुःख तो जरूरी या अनिवार्य हैं उन के बिना जीवन में रस नहीं मिल सकता।

जिन लोगोंने ऐसे मोक्ष की कल्पना की है जिस में किसी भी प्रकार का दुःख न हो, बीज-दुःख और भूमि-दुःख भी न हो, उन्हें अपनी कल्पना में दुःख के साथ सुख का भी त्याग करना पड़ा है। न्यायवैशेषिक आदि दर्शनोंने मुक्ति में इसीलिये दुःख के साथ सुख का भी अभाव माना है। जैन दर्शन ने यद्यपि सुख शब्द का उपयोग किया है–मोक्ष में अनंत सुख माना है–पर वहाँ सुख शब्द एक तरह से अर्थ-शून्य है। जैन दार्शनिकों का मुक्ति-सुख है निराकुलता अर्थात् आकुलता रूप दुःख का अभाव। इस प्रकार यह अभावात्मक सुख–अर्थात् दुःखाभाव ही है, रसात्मक–भावात्मक–सुख नहीं।

इस का मतलब यह हुआ कि पुराने दार्शनिकों का भी यही मत रहा है कि दुःख के बिना रस नहीं मिलता। यही बात अपने शब्दों में अपने ढंग से कुछ स्पष्टता से कही गई है।

(३)

प्रश्न—श्रमण का अर्थ 'श्रम करने वाला' और योगी का अर्थ 'मिलने वाले' होता है तो आज कल के श्रमण श्रम से दूर क्यों भागते हैं ? और आज कल के योगी परिवार को छोड़ कर संन्यास की ओर क्यों झुकते हैं ?

उत्तर—यद्यपि हर एक शब्द का पारिभाषिक अर्थ उस के धात्वर्थ के अनुसार नहीं होता फिर भी उपर्युक्त दोनों शब्दों का पारिभाषिक अर्थ धात्वर्थ के अनुरूप है । पर आज क्यों इन शब्दों के अर्थ के अनुरूप लोग व्यवहार नहीं करते इस के कारणों का पता कुछ इतिहास से और कुछ मनोविज्ञान से लगता है ।

मूल में श्रमण ऐसे ही थे । श्रम के बल पर ही उनने बड़ी बड़ी संस्थाएँ खड़ी की हैं चलाई हैं, घर घर और गली गली की धूल छान कर लोक-सेवा की है, स्वावलम्बी जीवन बनाया है लोक जीवन की चिकित्सा की है । उन की इन सेवाओं के बदले में उन्हें कुछ समय बाद पूजा प्रतिष्ठा मिली है हर तरह का बड़ा-पन मिला है और सुविधाएँ मिली हैं । यह सब स्वाभाविक था ।

कालान्तर में धनी आदमी की सन्तान की तरह उन श्रमणों की सन्तान को उत्तराधिकारित्व के रूप में पूजा प्रतिष्ठा आदि मिलती रही, पूर्व श्रमणों के शिष्य कहलाने के कारण और उन का वेष लेने के कारण जब इन्हें मुफ्त में ही पूजा प्रतिष्ठा आदि मिलने लगी तो एक धनिक पुत्र की तरह इन को श्रम करने की जरूरत न रही । ये बापदादों की कमाई के समान अपने गुरुओं की तीर्थंकर आदि की कमाई खाने लगे । इस प्रकार समाज में जब

वेष और पद की अन्ध पूजा आगई तब श्रमणों की श्रम शीलता भी नष्ट हो गई ।

दूसरी बात यह हुई कि समाजने अविवेक के कारण बड़प्पन का चिन्ह अकर्मण्यता मान लिया । क्योंकि बड़े बड़े श्रीमान लोग बापदादों की कमाई बैठे बैठे खाया करते हैं फिर भी धनी होने के कारण बड़े आदमी कहलाते हैं इसलिये धीरे धीरे बैठे बैठे खाना और कुछ काम न करना भी बड़ापन का चिन्ह माना जाने लगा और चूंकि श्रमण बड़े थे, काफी बड़े थे, इसलिये इन बेचारों को अपने बड़प्पन की रक्षा के लिये काफी अकर्मण्य बनना पड़ा । जो जितना बड़ा मुफ्तखोर वह उतना ही बड़ा साधु या श्रमण, ऐसी विचारधारा समाज की हो गई और अब भी है इसलिये श्रमणों को इस का उपयोग करना पड़ा अथवा यों कहना चाहिये कि श्रमणत्व का धंदा लोगों को बहुत आराम-देह मालूम हुआ इसलिये बहुत से लोग आराम के लिये इस व्यवसाय में आगये । भला ऐसे लोगों से श्रमशीलता की क्या आशा की जा सकती है !

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो मनुष्य काफी अंश में आलस्य का पुजारी है । जिन दार्शनिकों ने निश्चेष्ट मुक्ति की कल्पना की उन के हृदय में भी अमुक अंश में आलस्य-पूजा काम कर रही थी । मनुष्य की इस मनोवृत्ति के अनुसार भी श्रमण श्रमशील न रहे ।

इस प्रकार श्रमणों में श्रमशीलता न रहने में मुख्य अपराध समाज का है पर इस का यह मतलब नहीं है कि श्रमण निरपराध हैं । मालिक अगर गाफिल हो तो इसीलिये चोर निरपराध नहीं

कहा जा सकता। श्रमणों में असंयम अथवा यों कहना चाहिये कि असंयमी लोगों का श्रमण बन जाना भी इस का कारण है। पर जब तक समाज विवेक और सतर्कता से काम न लेगा तब तक यह कारण बना ही रहेगा।

योग के बारे में भी इसी तरह सामाजिक अविवेक के कारण दिशाभूल हुई है। योग का अर्थ मिलना है। निःसन्देह इस का अर्थ परिवार या समाज से मिलना नहीं है, किन्तु कल्याणपथ से ईश्वर से या सत्य से मिलना है और इस मिलने के लिये उतने अंशों में पारिवारिक बन्धनों को शिथिल अवश्य करना पड़ता है जिस से वह निःपक्ष बन सके न्यायी बन सके वीतराग बन सके विश्व प्रेमी या विश्व-हितैषी बन सके। पर पारिवारिक बन्धनों को शिथिल करने का अर्थ जीवन की जिम्मेदारियों से दूर भाग कर अपने निकम्मे जीवन का बोझ समाज पर लादना नहीं है।

समाज की भूल से और अपनी आलस्य-पूजा और अहंकार के कारण योग शब्द का अर्थ भी इस तरह काफी बदल गया है।

यद्यपि ध्यान-योग भी योग है पर उसे एक तरह से आपवादिक मार्ग समझना चाहिये। असली योग कर्म-योग है। पर है वह कठिन। कांटों की सेज ही है। पर जितना कठिन है उतना ही जरूरी भी है। मानव-जीवन की महत्ता और विशेषता इसी में है।

पर कठिन होने से, जिम्मेदारियों का बोझ होने से, साधारणतः लोग इस मार्ग में नहीं जाते वे ध्यानयोगी बनने का ढोंग करते हैं। ढोंग, शब्द का उपयोग मैं काफी जान बूझकर कर रहा हूँ क्योंकि अधिकांश मनुष्य ध्यानयोगी होते नहीं है किन्तु आराम

का रास्ता समझ कर उसपर चले जाते हैं।

ध्यानयोग और कर्मयोग के बारे में 'सत्यामृत' में बहुत कुछ कहा गया है इसलिये यहाँ कहने की जरूरत नहीं है।

हां! एक बात कहना है कि बहुत से आदमी, जो संसार या समाज से दूर भागते हुए दिखाई देते हैं, वास्तव में वे दूर भागते नहीं हैं न दूर भागना चाहते हैं, दूर भागना तो उन का एक तरीका है जो समाज को अपनी तरफ खींचने के लिये उनने अपनाया है। जैसे नाटक के नट-नटी दर्शकों को ज्यादा लुभाने के लिये, बार बार 'वन्स मोर' कराने के लिये बीच बीच में नेपथ्य में घुस जाते हैं, अथवा जैसे कोई लज्जालु ललना अपनी स्वीकारता 'चलो, हटो, नहीं, ऊहूँ' आदि निषेधवाची शब्दों में दिया करती है उसी तरह ये लोग भी संसार से दूर भागने का ढोल बनाकर संसार को खींचना चाहते हैं। बहुत से योगी कहलाने वालों का संन्यास इसी ढंग का होता है। भले शब्दों में इसे कला कह सकते हैं साधारण शब्दों में यह बचना है।

योगी और श्रमण अपने वास्तविक अर्थ में दिखाई दें इसके लिये निम्नलिखित प्रयत्न होना चाहिये।

१—जनता का विवेक जाग्रत किया जाय जिससे वह वेष पद व्यर्थ-क्रिया और व्यर्थ विद्या को महत्व देना छोड़ दे।

२—साम्प्रदायिक कट्टरता कम की जाय क्योंकि लोग अपने सम्प्रदाय की इज्जत रखने के लिये अकर्मण्य और दंभियों का बोझ सहन करते हैं अथवा लोगों को समझाया जाय कि इस तरह के लोगों को मानने से सम्प्रदाय की बेइज्जती ही होती है।

३–कार्य-कारण भाव का वैज्ञानिक दृष्टिकोण जाग्रत किया जाय। मंत्रतंत्रादि के जाल से लोग मुक्त हों। जिस से लोग बड़े से बड़े महात्मा योगी आदि से सिर्फ यही आशा करें कि वह उन्हें सच्ची राह दिखायगा, अवसर आने पर अपने शरीर आदि से भी कुछ मदद करेगा–करायगा। बाकी अन्धश्रद्धापूर्ण अलौकिकताओं की आशा न करें।

४–कर्मयोगियों का सन्मान किया जाय। भले ही वे वेष पद आदि से हीन हों।

जनता अगर इतनी जाग्रत हो जाय तो श्रमण और योगी अपने वास्तविक अर्थ में दिखाई देने लगें और जो लोग इस प्रकार के श्रमण और योगी बनना बनाना चाहते हैं उन्हें इस कार्य में सुविधा हो जाय।

(४)

प्रश्न–विज्ञान धर्म का सहायक होता है ऐसी हालत में आजकल का विकसित विज्ञान 'धर्म' की वृद्धि क्यों नहीं करता?

उत्तर–विज्ञान और धर्म दोनों का ध्येय प्राणि-समाज को सुखी करना है। विज्ञान सुख के साधन इकट्ठे करता है बनाता है, धर्म उस की व्यवस्था करता है, इस प्रकार ये एक दूसरे के पूरक हैं। इसी अपेक्षा से विज्ञान को धर्मका सहायक माना जाता है।

साधारणतः लोग समझते हैं कि विज्ञान धर्म का विरोधी है। ऐसे लोग धर्म का अर्थ अमुक सम्प्रदाय या अन्धश्रद्धापूर्ण रूढ़ियाँ आदि कर जाते हैं। पर धर्म का यह अर्थ नहीं है। धर्म तो हृदय का वह विकास है और समाज की वह व्यवस्था है, जिस से मनुष्य

अधिक से अधिक सुखी हो सके, खुद सुखी होकर वह दूसरों को सुखी कर सके। इस का विज्ञान के साथ न विरोध है न विरोध हो सकता है।

हां! धर्म के प्रचार के लिये शिक्षण-शालाओं के समान जो सम्प्रदाय बनाये जाते हैं और उनमें पाठ्यपुस्तकों के समान जो आचार-विचार के अनेक अवलम्बन बनाये जाते हैं उनमें से जो अश जीर्ण असामयिक आदि हो जाता है विज्ञान उस का विरोध करता है। ज्ञान-संस्थाओं के समान धर्म सस्थाओं का भी विकास होता है और विकास में पुरानी कुछ बातें कट ही जाती हैं, पर इसे मूळ का विरोध नहीं कहते। ऐसा विरोध तो विज्ञान विज्ञान में भी होता है। आज के विज्ञान की बहुत-सी बातें आनेवाले कल का विज्ञान बदल सकता है—यह विज्ञान का विरोध नहीं है, विकास है।

धर्म सस्थाओं में भी विकास हुआ है और उस विकास में विज्ञान का काफी हाथ है। भूत-पिशाच यक्ष आदि के भय के आधार पर खडे हुए धर्म विकसित होते होते परमब्रह्म या निरीश्वरवाद या सत्येश्वरवाद पर खडे हो गये हैं।

इससे इस बात का पता तो चल ही जाता है कि विज्ञान धर्म का विरोधी नहीं है बल्कि सहायक है। पर आज का विज्ञान धर्म में सहायक क्यों नहीं है? वह इस की वृद्धि क्यों नहीं करता?

इस का उत्तर यह है कि विज्ञान धर्म का सहायक है, प्रेरक, उत्तेजक या कर्ता नहीं। इसलिये धर्म अगर विज्ञान की सहायता ले तो वह देगा, न ले तो वह क्या करेगा? विज्ञान की जहाँ तक मर्यादा है—शक्ति है, वहाँ तक वह काम करेगा। इस के आगे अगर धर्म या धार्मिक-जगत् या मनुष्य काम करेगा तो उस का

फल दिखाई देगा, न करेगा तो इसमें विज्ञान क्या करे ? मानलो बंगाल में भयंकर अकाल पड़ रहा है, प्रति-सप्ताह दस-बारह हज़ार आदमी भूख से मर जाते हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण तार से, पोस्ट से, समाचार पत्रों से यह खबर चारों तरफ पहुँच जाती है, अकाल के कष्ट को दूर करने के लिये रेल-गाड़ियाँ सामान पहुँचा सकती हैं, इस प्रकार विज्ञान धर्म के कार्य में मदद पहुँचा सकता है। पर अगर मनुष्य रेलगाड़ियों के द्वारा खाद्य सामग्री न पहुँचाकर संहारक अस्त्र-शस्त्र ही ढोया करे तो इस में विज्ञान बेचारा क्या करे ? मनुष्य अगर धर्म के कार्य में विज्ञान का उपयोग न करे या उल्टा उपयोग करे तो विज्ञान का अपराध नहीं मनुष्य का अपराध है।

आज मनुष्य विज्ञान की राह में जितना आगे बढ़ गया है धर्म की राह में उतना आगे नहीं बढ़ पाया। विज्ञान और धर्म ये मानव-जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं। किसी गाड़ी का एक पहिया जैसे बहुत बड़ा हो और एक बहुत छोटा तो उस गाड़ी की दुर्दशा ही होगी, उसी प्रकार विज्ञान और धर्म के परिमाण की विषमता ने मानव-जीवन की दुर्दशा कर दी है।

वैज्ञानिक क्षेत्र में मनुष्य रेलगाड़ी, मोटर, हवाई-जहाज, पनडुब्बी-जहाज, सिनेमा, प्रेस, तार, टेलीफोन, रेडियो, आदि न कितना आगे बढ़ गया है पर धार्मिक-क्षेत्र में अभी वह साम्राज्य-वाद के त्याग का कोर्स भी पूरा नहीं कर पाया है, मनुष्य-मात्र की राजनैतिक समानता को भी नहीं मान पाया है। फिर पूंजीवाद को दूर करने का कोर्स, व्यक्ति-समभाव अवस्था-समभाव आदि

का कोर्स तो दूर की बात है । अगर सौ वर्ष तक वैज्ञानिक उन्नति बिलकुल न की जाय और सौ वर्ष तक की सारी शक्ति धर्म की उन्नति के लिये लगाई जाय तब शायद विज्ञान और धर्म के पहिये बराबर बराबर होंगे ।

आज तो क्या धर्म-संस्थाएँ क्या राज्य-संस्थाएँ, दोनों तरह की संस्थाएँ धर्म के बारे में काफी उदासीन हैं । बेईमानी विश्वासघात आज चतुराई है, संहार आज वीरता और सभ्यता है । राज्य-संस्था को नैतिकता की चिन्ता नहीं है, उसे तो कानून की चक्की एक बार घुमा देने से मतलब । वह सफल है या अफल है या कुफल है–इस से कोई मतलब नहीं । ऐसी अवस्था में बेचारा विज्ञान धर्म की वृद्धि कैसे करे, किस मुँह से करे ?

जिस दिन मनुष्य धर्म और विज्ञान के दोनों पहिये बराबर करके जीवन-यात्रा करेगा, उस दिन मुक्ति, वैकुण्ठ, स्वर्ग आदि उसके पास दौड़ते हुए दिखाई देंगे ।

(५)

प्रश्न– क्या प्राचीन तत्ववेत्ता जो बड़े बड़े अध्यात्म सम्बन्धी अन्वेषण करते थे, वे भौतिक विज्ञान में उन्नति नहीं कर सकते थे ? फिर उन्होंने मुद्रणकला सरीखी उपयोगी विद्या को भी समृद्ध क्यों नहीं बनाया ? क्या उनको वाष्पयान और वायुयान कला का प्रकार इष्ट नहीं था ?

उत्तर– विज्ञान का विकास धीरे-धीरे ही होता रहा है । सैकड़ों मनुष्य शताब्दियों तक विचार और प्रयत्न करते रहे हैं तब अकस्मात् कभी किसी एकाध को किसी आविष्कार में सफलता

लिखी है। फिर वह आविष्कार जन-साधारण में साधारण चीज बन गया है। साधारण चीज बन जाने पर लोगों को आश्चर्य होता है कि–'अरे, पुराने लोग इतनी भी बात नहीं जानते थे!' आज एक अपढ़ मजदूर भी साइकिल चला लेता है और बहुत से साधारण आदमी साइकिल के कलपुर्जों के बारे में निष्णात हैं। सौ वर्ष पहिले यह सब कल्पनातीत था। बड़े-बड़े दार्शनिक या अन्य विषयों के विद्वानों की बात तो दूर, पर बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी साइकिल के बारे में कुछ नहीं जानते थे।

आज से पचास वर्ष बाद जो आविष्कार दुनिया के सामने आने वाले हैं; उन के बारे में आज के बड़े-बड़े विद्वान व्यक्ति भी अनजान हैं। यही हाल पुराने जमाने के तत्ववेत्ताओं का था।

निःसन्देह ऐसे भी लोग थे जो भौतिक-उन्नति की तरफ विशेष ध्यान नहीं देना चाहते थे, पर ऐसे लोग तो आज भी हैं और आगे भी रहेंगे; पर सारी दुनिया न आज ऐसी है, न पहिले ऐसी थी। दार्शनिक अपने दर्शन-शास्त्र में मस्त थे तो आविष्कारक अपने काम में लगे थे। पर आज उन के आविष्कार सर्व-साधारण में इतने फैल गये हैं कि उन्हें आविष्कार का महत्व ही नहीं रह गया है।

कुदाली से खेत की जमीन खोदने की जगह जिनने हल से जमीन खोदने का आविष्कार किया–वे भी आविष्कारक थे, तकली या ढिरिया से सूत कातने की जगह जिनने चर्खे का और इस में भी चार-सौ छः-सौ नम्बर तक के सूत कातने का आविष्कार किया वे भी आविष्कारक थे। इस प्रकार आविष्कार तो पहिले भी होते

रहे हैं, पर मनुष्य अब काफी बढ़ गया है और पुराने आविष्कार साधारण चीज बन गये हैं इसलिये ऐसा मालूम होता है कि पुराने लोग इस तरफ ध्यान नहीं देना चाहते थे। जब कि वास्तविक बात यह है कि पुराने जमाने में भी भौतिक-उन्नति की तरफ़ लोगों का ध्यान था। उन्हें भौतिक-उन्नति इष्ट भी थी और वह इस दिशा में थोड़ा-बहुत बढ़ता भी था। हां! उस समय वह इतना समर्थ नहीं हो पाया था कि बाष्पयान, वायुयान और मुद्रणकला का आविष्कार कर पाता। धीरे-धीरे यह सब हुआ और आगे भी बहुत कुछ होगा। भले ही पहिले के समान आज के भी बहुत से तत्ववेत्ता इस तरफ उपेक्षा करें।

हां! पहिले जमाने में वैज्ञानिक प्रगति बहुत धीमी और थोड़ी होती थी और आज बहुत तेज और अधिक हो रही है, इसलिये यह भ्रम होने लगता है कि पहिले जमाने के लोग आज के लोगों की अपेक्षा कम बुद्धिमान थे। और जिन पूर्वजों की हम पूजा करते हैं उन्हें कम बुद्धिमान कहते और मानते हुए दिल को चोट पहुँचती है। इसलिये कोई कोई लोग तो यह कहने लगते हैं कि पुराने लोग वैज्ञानिक-उन्नति में आगे तो खूब बढ़ गये थे पर पीछे के लोग अयोग्य निकले और उनने सब बर्बाद कर दिया। पर ये लोग यह नहीं सोचते कि ये पीछे के लोग भी हमारे तो पूर्वज ही हैं। और पिछले दो-ढाई हजार वर्ष के पूर्वज भी वैज्ञानिक प्रगति में हम से पीछे थे—यह भी स्पष्ट है। इसलिये अगर हमारे दो-ढाई हजार वर्ष के पूर्वज वैज्ञानिक-उन्नति में हम से पीछे हो सकते हैं तो उन पूर्वजों के भी पूर्वज जो उन से हजार दो-हजार वर्ष

पहिले हुए होंगे अगर इन पूर्वजों से पीछे हों तो क्या आश्चर्य है ! कल्पनाओं को हम इतिहास का रूप क्यों दें ?

दूसरा दल उन लोगों का है जो न तो पूर्वजों को कम बुद्धिमान मानना चाहते हैं और न कल्पित कथाओं में तथ्य देखते हैं, इसलिये भौतिक दृष्टि से पुराने जमाने को विकसित भी नहीं मानते । वे यह कहते हैं कि पुराने जमाने में भौतिक उन्नति नहीं हुई, इसका कारण यह है कि उस जमाने के लोग भौतिक विकास पसन्द नहीं करते थे ।

पर यह मत भी ठीक नहीं है । भौतिक उन्नति के गीतों से, देव-स्वर्ग आदि के चित्रणों में भौतिक विकास की महत्ता से, पुण्य-फल आदि की चर्चा में भौतिक विकास के प्रलोभनों से यह तो मालूम होता है कि पुराने जमाने के विद्वान भी भौतिक विकास की तरफ ललचाई हुई आंखा से देखते थे । भौतिक विकास वाले कल्पित देव और विद्याधरों को ऊंची जाति का प्राणी मानते थे । फिर भी अगर वे भौतिक विकास नहीं कर पाये तो इस का कारण न तो उन की उपेक्षा वृत्ति है—न उन की बुद्धिहीनता, इस का कारण है विकास की क्रमवद्धता ।

एक बुद्धिमान बालक भी जब पहिली कक्षा में पढ़ता है तब महीनों में दो-चार पेज की भी किताब पूरी नहीं कर पाता । कुछ शब्द और अक्षर सीखने में उस की शक्ति और समय काफी लग जाता है । जब कि साधारण बुद्धि का भी एक बालक एम. ए. आदि पढ़ते समय एक एक दिन में पहिली कक्षा के बुद्धिमान बालक की अपेक्षा कई गुणा पढ़ जाता है । प्रारम्भिक अवस्था में

जितना काम महीनों में होता है आगामी अवस्था में उतना मिनिटों में होता है। विकास का यही क्रम है।

इसी नियम के अनुसार पुराने जमाने में हम विज्ञान की मन्द प्रगति देखते हैं और आज उस का ज्वार-सा आया हुआ है। इस के लिये न पुराने जमाने की वैज्ञानिकता के कल्पित चित्र खींचनेकी जरूरत है न उन्हें बुद्धिहीन मानने की जरूरत है और न उन्हें उपेक्षक समझने की जरूरत है।

(६)

प्रश्न– क्या कभी आपको ऐसी अव्यक्त शक्तियों का अनुभव होता है जो असहाय अवस्था में भी अनुकूल परिस्थितियाँ निर्माण कर देतीं हैं ?

उत्तर– यह प्रश्न व्यक्तिगत है। ऐसा हो सकता है कि जो अनुभव मुझे न होता हो वह दूसरों को होता हो। ऐसे अनुभवों का सम्बन्ध वस्तुस्थिति से नहीं होता; किन्तु मनोवृत्ति से होता है, श्रद्धा से होता है। इसलिये अगर श्रद्धा हो तो अव्यक्त शक्तियों के न होने पर भी ऐसी शक्तियों का अनुभव हो सकता है और श्रद्धा न हो तो अव्यक्त शक्तियों के होने पर भी उन का अनुभव नहीं हो सकता।

ऐसे मामलों में मेरी अवस्था कुछ अनिर्वचनीय-सी है। अनुकूल परिस्थितियों के निर्माण की बात तो नहीं कह सकता, पर अनुकूल मनोवृत्तियों या विचारों के निर्माण की बात कुछ कह सकता हूँ। जब बाहरी परिस्थितियाँ चित्त को हताश और कर्तव्य-विमूढ़-सा बनाने को उद्यत हो जाती है तब निराश होने के बदले हृदय में

विपत्तियों से लड़ने का जो उत्साह पैदा होता है उनके सामने न झुकने का गौरव पैदा होता है, संकटों को खेल समझने की जो भावना जगती है—इसी को अव्यक्त शक्तियों का प्रभाव कह सकता हूँ। साधारणतः इसे मैं 'सत्येश्वर की कृपा' कहा करता हूँ। मुझे यही उपयुक्त और प्रिय मालूम होता है।

किसी अव्यक्त शक्ति से मैं यह आशा नहीं करता कि वह निर्धनता में धन-वैभव, अनधिकार में अधिकार आदि दे देगा। मैं तो उससे इतनी ही आशा करता हूँ कि दुःख के असीम कारणों के रहने पर भी वह मुझे भीतर से दुःखी और निराश न होने दे और मेरे मन में ऐसी भावना जगाये जिससे मैं कल्याण पथ में आगे बढ़ सकूँ, प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल परिस्थितियों में परिणत कर सकूँ या प्रतिकूल परिस्थिति में अनुकूल परिस्थिति ढूढ़ सकूँ।

मेरी यह आशा अनेक बार सफल हुई है, इसी से मैं अपने को सत्येश्वर का कृपा पात्र समझता हूँ। उनका रूप कल्पित हो या अकल्पित, गम्य हो या अगम्य, मेरे तो वह अनुभव की चीज है—परमसत्य है। व्यक्त भी वही है, अव्यक्त भी वही है।

(२)

प्रश्न— हम अपनी इच्छा से उत्पन्न नहीं हुए पराधीन हो कर ही बड़े हुए और मृत्यु भी हमारी इच्छा पर अवलम्बित नहीं है फिर यह हिमाकत क्यों करते हैं कि हम स्वतंत्रता के साथ अपनी परिस्थितियाँ आप निर्माण कर लेंगे? क्यों न हम प्रयत्न छोड़कर उस सर्वाधार शक्ति के प्रति समर्पित हो जायँ?

उत्तर- कर्तृत्व का घमंड और फल का मोह बुरी चीज है, उसे छोड़कर समर्पित होने से काफ़ी शान्ति मिलती है। पर इस के लिये प्रयत्न छोड़ने की ज़रूरत नहीं है। किन्तु उसी सर्वाधार शक्ति सत्येश्वर के प्रति समर्पित होकर अधिक से अधिक प्रयत्न करने की ज़रूरत है। अगर हम किसी को अपना जीवन दे दें तो उस का यह अर्थ नहीं है कि उस के द्वार पर आलसी [illegible] रहें; किन्तु अर्थ यही है कि उस की इच्छा या आज्ञा के अनुसार अधिक से अधिक प्रयत्न करें और उस प्रयत्न का जो फल हो उस का स्वामी अपने को न समझें।

सत्येश्वर की आज्ञा है कि विश्व में सुव्यवस्था हो, अधिक से अधिक प्राणी सुखी बनें। जिसने जीवन समर्पण किया है वह मोह और अहंकार छोड़कर इसी दिशा में प्रयत्न करेगा। फिर असफलता में दुःखी न होगा, सफलता में घमंड न करेगा।

हां! इस में सन्देह नहीं कि मनुष्य की शक्ति बहुत थोड़ी है। जन्म-मृत्यु आदि पर उस का वश नहीं है और भी अगणित घटनाएँ उस के जीवन में होती हैं। जिन्हें वह रोक नहीं सकता। इस प्रकार अपनी तुच्छता को समझकर उसे हिमाकत से दूर रहना चाहिये। अनुकूल परिस्थियों को सत्येश्वर की कृपा समझना चाहिये। हमारे कर्तृत्व में प्रगट और अप्रगट रूप में इतने अधिक व्यक्तियों का और अव्यक्त शक्तियों का हाथ रहता है कि सफलता के श्रेय का एक एक कण भी न्यायानुसार उन्हें हिस्से में दिया जाय तो हमारे हाथ में नहीं के बराबर ही आयगा। फिर शेखी किस बात की!

मोह और अहंकार दोनों का त्यागकर सत्येश्वर के चरणों में अपना जीवन समर्पण कर विश्व-हित की दृष्टि से अधिक से अधिक प्रयत्न करते हुए जीवन बिता देना चाहिये।

(८)

प्रश्न– हम वृद्धावस्था के लिये या अपने कुटुम्ब के लिये धन-संचय क्यों करें ? सौभाग्य या अच्छा स्वभाव होगा तो सेवा करने-वाले मिल जायँगे और दुर्भाग्य होगा तो संचित भी नष्ट हो जायगा। पूत 'सपूत' होगा तो उपार्जन कर लेगा और 'कपूत' होगा तो संचित भी उड़ा देगा।

उत्तर– धन-संचय के बारे में यह एक दृष्टि है और अच्छी दृष्टि है। पर इसका दूसरा पहलू भी है जिस पर बहुत उपेक्षा नहीं जा सकती।

जब तक समाज या सरकार ने वृद्धों के निर्वाह के लिये कोई खास व्यवस्था नहीं की है तब तक वृद्धावस्था के लिये थोड़ा-बहुत संचित करने की आवश्यकता रहेगी। सौभाग्य या दुर्भाग्य तो फलानुमेय और प्रयत्नसाध्य हैं, पहिले से इन का निर्णय नहीं किया जा सकता। मनुष्य को भाग्य भरोसे न बैठना चाहिये, उस के पास बुद्धि और प्रयत्न है—उसी के अनुसार काम करना चाहिये। वृद्धावस्था में दूसरों के अधीन रहने से दूसरों का बोझ बढ़ता है। इसलिये हमारी सज्जनता में अनुरक्ति होने पर भी बोझ के कारण लोगों के मन में ग्लानि पैदा हो सकती है। इसलिये यथाशक्य इस परिस्थिति से बचना चाहिये। हां ! धन-संचय के लिये हाय हाय

न करना चाहिये; क्योंकि योग्य व्यक्ति वृद्धावस्था में भी दीन नहीं बनता ।

कुटुम्बियों के लिये धन-संचय की बात दूसरी है । सन्तान का पालन-पोषण कर देना और उसे श्रमसाध्य जीविका के मार्ग में लगा देना तो ठीक है, पर उसे मिहनत न करना पड़े—वह मुफ्त में पड़े-पड़े खाये इसलिये उस के लिये धन-संचय करना ठीक नहीं है । सन्तान के लिये धन-संग्रह करने की अपेक्षा उस में आदमियत पैदा करना, उस का जीवन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अनुकूल बनाना अधिक ज़रूरी है ।

(९)

प्रश्न— क्या भगवत्कृपा या पूर्वजन्म के संस्कारों के बिना भी मोह पर विजय प्राप्त किया जा सकता है ?

उत्तर— मोह विजय के लिये हमें भगवत्कृपा और पूर्वजन्म के संस्कारों की आशा पर निर्भर न रहना चाहिये । भगवत्कृपा तो एक अदृश्य चीज़ है । वह किस पर कब होगी—इस का पहिले से पता लगाना कठिन है । फिर भी इतना तो निश्चित है कि भगवान कैसा भी हो वह कृपा करने में व्यक्ति-पक्षपाती नहीं है उस की कृपा हमारी किसी विशेष पात्रता पर ही निर्भर है, भले ही वह पात्रता विवेक, भक्ति, त्याग, तप, सेवा आदि किसी भी शब्द से कही जाय । मोह विजय के लिये भगवत्कृपा ज़रूरी है पर भगवत्कृपा के लिये उपर्युक्त पात्रता ज़रूरी है । हमारा विशेष ध्यान इसी प्रकार की पात्रता पैदा करने की तरफ़ रहना चाहिये, भगवत्कृपा तो फिर अपने आप हो जायगी ।

रही बात पूर्वजन्म के संस्कारों की, सो इस में सन्देह नहीं कि संस्कारों का बड़ा प्रभाव होता है, भले ही वे पूर्वजन्म के हों या शैशव या बाल्यावस्था के हों।

पर ईश्वर कृपा की तरह ये संस्कार भी बड़े सूक्ष्म हैं, इसीलिये दुर्ज्ञेय हैं। अधेड़ से अधिक जीवन जिन का मोह के चक्कर में और विविध दुराचारों में निकल जाता है वे भी अन्त में मोह-विजयी देखे जाते हैं, न जाने कब के कौन सुसंस्कार उन के जोर मारते हैं कि जरा-सा निमित्त मिलते ही सारा जीवन बदल जाता है। इसलिये मोह-विजय के लिये संस्कारों की आशा करना भी व्यर्थ है। हर मनुष्य को मोह-विजय के लिये प्रयत्न करना चाहिये और यह मान लेना चाहिये कि प्रयत्न अगर पर्याप्त होगा तो इस जन्म के या जन्म-जन्मान्तर के सोये हुए संस्कार अवश्य जाग पड़ेंगे।

कहने की मुख्य बात यह है कि मोह में फँसे रहना और यह कहते रहना कि 'क्या करें, ईश्वर की कृपा तो है ही नहीं' अथवा 'पूर्वजन्म के संस्कार ही खराब हैं मैं मोह-विजय कैसे करूं' यह अनुचित है। जो सच्चे दिल से प्रयत्न करता है उस पर ईश्वर की कृपा भी होती है और उस के सुसंस्कार कुसंस्कारों पर विजय प्राप्त करते हैं।

हां! कर्तृत्व का अहंकार पैदा न हो जाय—इस के लिये भगवत्कृपा समझना उचित है यों जो मोह-विजयी है उस में अहंकार पैदा हो ही नहीं सकता, अथवा जिस में अहंकार है वह मोह-विजयी ही नहीं है।

संस्कारों के बारे में भी यह खयाल रखना चाहिये कि संस्कार जितने प्रबल होंगे प्रयत्न उतनी ही जल्दी सफल होगा। पूर्वजन्म के संस्कार ही नहीं—इस जन्म के संस्कार भी प्रयत्न की सफलता में सहायक हैं, इसलिये सत्संगति में रहना, सन्तान को सत्संगति में रखना ज़रूरी है।

हां! इस बारे में एक बात और कहना है कि मोह-विजय का सम्बन्ध किसी दार्शनिक सिद्धान्त से नहीं है। भगवान मानों या न मानों या उसे अमुक रूप में मानों आदि बातों पर या पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्तों पर भी मोह-विजय निर्भर नहीं हैं। दार्शनिक क्षेत्र में नास्तिक किन्तु धार्मिक क्षेत्र में आस्तिक व्यक्ति मोहविजयी हो सकता है।

इस प्रश्न से हरएक आदमी का ध्यान इस बात की तरफ़ अवश्य जाना चाहिये कि भगवान की शरणागति और सत्संग मोहविजय में बहुत सहायक हैं। भले ही भगवान को वह किसी भी रूप में मानें।

(१०)

प्रश्न— पति को सर्वस्व समझकर कोई महिला वीतराग भाव से उसके शव के साथ जल जाय तो उसे आप प्रशंसनीय क्यों नहीं समझते? क्या यह प्रशस्त बलिदान नहीं है? क्यों?

उत्तर- किसी बलिदान की प्रशस्तता और अप्रशस्तता इस बात पर निर्भर है कि वह जन-कल्याण की दृष्टि से कितना उपयोगी है। एक नारी पति के शव के साथ जल जाय—इस में किसी

का भी कल्याण नहीं है। मृत-पति को तो उससे कुछ लाभ है ही नहीं, साथ ही जलने-वाली पत्नी का भी कुछ लाभ नहीं है। मानव-जीवन के कर्तव्य छोड़कर मोह-वश प्राण दे देना एक तरह की आत्महत्या है।

यह कहा जा सकता है कि सामाजिक संस्कारों ने जब स्त्री-हृदय पर एक छाप लगा दी होती है कि पति के साथ जल जाना उसका कर्तव्य है, तब वह मोह-वश नहीं—कर्तव्य-वश ही अपने प्राण देती है। निःसन्देह ऐसी हालत में उसकी आत्महत्या को असंयम तो नहीं कह सकते, पर उसे मिथ्यात्व या अविवेक अवश्य कह सकते हैं।

देवी के आगे पशुओं की और अपनी सन्तान तक की बलि करने-वाले लोगों में ऐसे लोग भी होते हैं जो धार्मिक-कर्तव्य समझकर ऐसा करते हैं। उनकी यह उल्टी समझ जैसे निर्दोष नहीं है उसी प्रकार सती-प्रथा भी निर्दोष नहीं है। इसमें अविवेक तो है ही, पर अधिकांश स्थानों में एक तरह की कायरता मोह और झूठी महत्वाकांक्षा भी है।

जो नारी यह सोचती है कि वैधव्य के तिरस्कृत जीवन की अपेक्षा जलकर मर जाना अच्छा, वह यह काम कर्तव्य-वश तो नहीं कर रही है; किन्तु भय निर्बलता आदि के कारण कर रही है। गरीबी के कारण मर जाना, पुत्र-वियोग के कारण मर जाना, आदि आत्महत्या के प्रसंगों की तरह यह प्रसंग भी कहलाया। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह विपरीत परिस्थिति के साथ जीवन भर लड़ता रहे। वैधव्य के तिरस्कृत जीवन को अगर वह उचित सम-

जाती है तो विधाता के इस विधान से डरकर वह आत्महत्या क्यों करती है ? अगर वह इसे समाज का अत्याचार समझती है तो इस के विरोध में उसे जीवन भर लड़ना चाहिये, जिस से वह अन्य अनेक विधवाओं के जीवन की राह के काँटे दूर कर सके।

अगर वह मोह-वश प्राण दे रही है तब भी उस की निर्बलता साबित होती है। मोह-वश प्राण देने-वाले तो आत्महत्या करने-वाले ही हैं।

मरने के बाद मेरा नाम अमर हो, मुझे लोग सती कहकर पूजें—इस भाव से पति के साथ मरने-वाली नारी में दंभ है। जैसे, बहुत से साधु-वेषी अपनी पूजा कराने के लिये निरर्थक कष्ट सहन करते हैं, उसी तरह का यह भी प्राणदान है।

पति-पत्नी के प्रेम की निशानी यह नहीं है कि एक के मरने पर दूसरा मर जाय, किन्तु यह है कि दोनों जीवन भर एक दूसरे के विषय में वफादार और एक दूसरे के सेवक रहें। और किसी एक के मर जाने पर उस के प्रति कृतज्ञ रहें और यथाशक्य उस का अधूरा काम पूरा करें। सती-प्रथा में इस प्रेम का परिचय नहीं मिलता, किन्तु मोह का—अविवेक का—दंभ का—कायरता का परिचय मिलता है।

अब जरा इस प्रथा पर एक ऐतिहासिक दृष्टि डाल लेना चाहिये और उस के सामाजिक परिणामों का भी विचार कर लेना चाहिये।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रथा में भयंकर पुरुषत्वोन्माद दिखाई देता है। पुरुष जब छल-बल से सर्वाधिकारी हो गया तब उस के

विलास और घमंड का पार न रहा। वह अपनी इच्छा से जितनी चाहे स्त्रियाँ रख सकता था, फिर भी समाज में वह ऊँचा सिर करके चल सकता था, बल्कि पुरुष के इस पाप की जिम्मेदारी भी नारी पर डाल जाती थी कि वह अपने पति को वश में क्यों न रख सकी ! लेकिन नारी के लिये सारी बात उल्टी थी। वह पति के जीते जी ता क्या उसके मरने के बाद भी इधर-उधर नहीं देख सकती थी। इतना ही नहीं, किन्तु मन के पूर्ण पवित्र रहने पर भी अगर विवशता के कारण किसी की छाया पड़ जाय तो नारी का सर्वस्व चला जाता था। रावण के द्वारा सीताजी के हरण में सीताजी का कोई कुसूर नहीं था, पर उस समय का समाज महा-सती सीता को सहन नहीं कर सका, उन्हें घर से निकलवाकर ही छोड़ा।

हरएक पुरुष यह सोचता रहा है कि मेरा अशील तो मेरा अधिकार है, पर नारी का शील अर्थात् मेरे मरने के बाद भी मेरे नाम पर जिन्दगी भर रोते रहना—नारी का परम-कर्तव्य और मेरी इज्जत है। वह अपनी इज्जत के लिये सोचता रहा है कि नारी मेरे बाद जिन्दी न रहे तो मेरी इज्जत के लिये यह कितनी अच्छी बात हो।

राजपूताने की एक घटना मुझे याद आती है जिस में एक नवयुवक सेनापति लड़ाई में जाने के पहिले अपनी नव-विवाहिता पत्नी को शील से रहने के लिये बार-बार लौटकर हिदायत करता है। पति का अपने ऊपर इतना अविश्वास देखकर पत्नी अपना सिर काट डालती है, तब कहीं पतिराज बड़ी निश्चिन्तता और

प्रसन्नता से लड़ाई के मैदान में जा पाते हैं। यह अविवेक-पूर्ण और अहंकार-पूर्ण मनोवृत्ति पुरुष में रही है और उसे खुराक देने के लिये धर्म और कर्तव्य के नाम पर नारी-समाज को मरने के लिये विवश किया जाता रहा है।

कई हजार वर्ष पहिले पश्चिम के किसी देश में शायद मिश्र में यह रिवाज था कि राजा के मरने पर उसकी सैकड़ों रानियाँ और दासी-दास राजा की लाश के साथ जिन्दे गाड़ दिये जाते थे। भारतवर्ष की सती-प्रथा भी ऐसा ही नमूना है। आज देशकाल की दृष्टि से इतने दूर बैठकर भी जब कल्पना से ही उन दृश्यों का चित्र अपनी आँखों के सामने खींचा जाता है तब आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। दिल कहता है—ओह! मनुष्य कितना क्रूर है और जितना क्रूर है उससे भी अधिक वह कितना दम्भी है कि ऐसे कुकर्मों पर भी वह 'धर्म' 'कर्तव्य' आदि का रंग पोतकर इन पापों को छिपाने की चेष्टा कर सकता है!

सती की कुप्रथा नर-नारी वैषम्य की चरम-सीमा की निशानी है। यह नारीत्व का घोर उत्पीड़न है और इस उत्पीड़न के लिये नारी का तन ही नहीं, मन भी गुलाम बनाया गया है। इस षड्-यन्त्र में विद्वानों की धम-शास्त्रियों की शक्ति लगाई गई है और यह सब सिर्फ इसलिये कि पुरुष के घमंड की पूजा हो।

अब जरा इसके व्यावहारिक रूप को देखें। यह सम्भव है कि पुरुष-समाज के षड्यन्त्र के कारण कोई भोली किन्तु सहिष्णु नारी जिन्दे जलने की भयंकर यातना को सह जाती रही हो, पर अधिकांश में उसे जलने के लिये विवश ही किया जाता था।

कपूर की मालाएँ इसलिये पहिना दी जाती थीं कि उसे जल्दी आग पकड़ ले, जोर-जोर से बाजे इसलिये बजाये जाते थे कि उसका भयंकर चीत्कार सुनाई न पड़े, चारों तरफ शस्त्रधारी इसलिये खड़े रहते थे कि अगर वह भागने की कोशिश करे तो फिर ढकेलकर आग में डाल दी जाय।

सती-प्रथा का यही साधारण रूप था। इसी निर्दयता को धर्म, कर्तव्य, वीतरागता आदि कहकर पीछे से गा दिया जाता था। पशु मनुष्य की अपेक्षा बहुत ही असंयमी प्राणी है, पर असंयमी से असंयमी और समझदार से भी समझदार पशु मनुष्य की इस क्रूरता और दम्भ की कल्पना भी नहीं कर सकता।

खैर, सती कहलाने वालों की तो जो दुर्दशा होती थी सो होती थी, पर वे विधवाओं के जीवन को कण्टकाकीर्ण बनाने में भी कारणभूत होती थीं। जो विधवाएँ जल नहीं सकती थीं, उनका सतीत्व शुद्ध नहीं समझा जाता था। इस प्रकार उन्हें तिरस्कृत करने का उन्हें जानवर की तरह दिन-रात जोतकर कम से कम देने का, इस तरह उन्हें गुलाम प्रजा की तरह अधिक से अधिक चूसने का लोगों को और भी मौका मिलता था।

इस प्रकार धार्मिक-सामाजिक ऐतिहासिक दृष्टि से जब इस कुप्रथा पर नज़र डाली जाती है तब यही कहना पड़ता है कि यह सर्वतोमुख पाप है।

वीतराग-भाव का तो इससे जरा भी सम्बन्ध नहीं है। वीतराग व्यक्ति तो ईश्वर की सेवा में जिन्दगी लगायगा, किसी व्यक्ति के मरने पर मरता न फिरेगा।

समाज को और खासकर नव-विधवा को निम्नलिखित विचार करना चाहिये।

१– दाम्पत्य-जीवन नर और नारी के बीच में ऐसा समझौता है जिसे ईमानदारी के साथ जीवन भर निभाना चाहिये। इसका परलोक से कोई सम्बन्ध नहीं है।

२– सती का अर्थ भली है। जिसका दाम्पत्य-जीवन कलह-शून्य और सेवामय है–वह भली अर्थात् सती है, पति के के पीछे प्राण देने वाली नहीं। जो जीवन में भली न थी पर पति के पीछे मर गई तो वह सती नहीं है, जो जीवन में भली थी पर पति के पीछे न मरी, अपने मानव-जीवन की सार्थकता के लिये वह नैतिकता के साथ जिन्दी रही–वह सती ही है।

३– पति को भला–सत्–होने के लिये जैसे पत्नी के पीछे मरने की ज़रूरत नहीं, उसी प्रकार पत्नी को भली–सती–होने के लिये पति के पीछे मरने की ज़रूरत नहीं।

४– 'दाम्पत्य' जीवन का एक अच्छा रूप है, पर इसका यह मतलब नहीं है कि उसके सिवाय कोई दूसरा रूप नहीं है और उसमें जीवन की सार्थकता नहीं है। ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी बनकर जो लोग जन-सेवा के मार्ग में लग जाते हैं उनका जीवन साधारण दम्पतियों की अपेक्षा अनेक गुणा सार्थक और महान् हो जाता है, वे महापुरुष और महासतियाँ बनकर जगत्पूज्य हो जाते हैं। किसी विधवा को व्यर्थ सती कहलाने के लिये पति के पीछे मरने की जरूरत नहीं है; किन्तु जगत् की सेवा करके महासती बनने की जरूरत है।

५– 'वीतरागता' प्रेम को विश्व-व्यापक बनाती है और जगत् की सेवा करने के लिये प्रेरित करती है, वह इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग में मनुष्य को समभावी रखती है, मरने के लिये उत्तेजित नहीं करती।

६– आत्मा न नर है न नारी। यह सब कर्मानुसार शरीर की रचना है। सैकड़ों बार पुरुष नारी हो सकता है और नारी पुरुष। नारी शरीर मिलने पर किसी पुरुष के साथ होने-वाले सम्बन्ध को जन्म-जन्मान्तर तक ले जाने की न तो जरूरत है, न वह सम्भव ही है। पति और पत्नी अपने अपने कर्म के अनुसार अपनी अपनी गति में जायँगे और कर्मानुसार ही पुरुष, स्त्री या नपुंसक बनेंगे। एक साथ मरने से ही वे अगले जन्म में दम्पति न बन जायँगे।

(बल्कि एक साथ मरने से तो दाम्पत्य कुछ कठिन ही होगा। साधारणतः दाम्पत्य के लिये पुरुष की उम्र की अपेक्षा स्त्री की उम्र चार-पांच वर्ष कम होती है। साथ मरने से तो अगले जन्म में भी वे समवयस्क होंगे, इस से दाम्पत्य कठिन ही होगा।)

इस प्रकार के विचार तथा पहिले जो ऐतिहासिक सामाजिक विचार प्रगट किये गये हैं, उन पर नजर डालने से किसी भी स्त्री का पति के शव के साथ जलकर मरना अनुचित है। ऐसी घटनाओं को प्रशंसा की दृष्टि से जो महत्त्व देते हैं–वे एक तरह से पाप को उत्तेजन देते हैं।

(११)

प्रश्न— जब मर्यादा पालन के कर्तव्य में और व्यापक सच्चाई के अनुकरण में संघर्ष हो तब मर्यादा पालन को महत्व क्यों न दिया जाय ? क्या वह मर्यादा-पालन परम्परा से व्यापक सच्चाई को सुदृढ़ बनाने में सहायक नहीं हो सकता ?

उत्तर— मर्यादा-पालन व्यापक सच्चाई के लिये ही है, इस का मतलब यह हुआ कि मर्यादा-पालन एक साधन है और व्यापक सच्चाई या सत्य साध्य है। जब साध्य और साधन में विरोध हो तब साधन बदल देना चाहिये। साधन के लिये साध्य की कुर्बानी नहीं की जा सकती, बल्कि साध्य के लिये साधन की कुर्बानी की जा सकती है। जब मर्यादा-पालन व्यापक-सत्य के संघर्ष में आया तब इस का मतलब यही हुआ कि साधन साध्य के विरुद्ध गया, ऐसी हालत में हमें मर्यादा के रूप में परिवर्तन करना चाहिये। जब तक मर्यादा-पालन व्यापक-सच्चाई को सुदृढ़ बनाने में सहायक है तब तक व्यापक-सच्चाई के साथ संघर्ष ही न कहना चाहिये। अगर संघर्ष है तब व्यापक-सच्चाई को सुदृढ़ बनाने में सहायक न मानना चाहिये।

मर्यादा में सत्य का एक चिरकालिक रूप रहता है इसलिये एकाध घटना के कारण मर्यादा को नहीं तोड़ा जा सकता, पर जब यह देखा जाय कि अब तो यह मर्यादा मृत हो गई है या घातक हो गई है, तब हमें उसे बदल देना चाहिये। मर्यादा सत्य का चिरकालिक रूप भले ही हो, पर वह सार्वकालिक या अनन्त-कालिक रूप नहीं है, उस की कालिक सीमा है—उम्र है। उस के समाप्त होने पर उस की जगह दूसरी मर्यादा का आना जरूरी है।

बहुत-सी रूढ़ियाँ सत्य के लिये ही पैदा होती हैं और काफ़ी समय तक उन के द्वारा सत्य की सेवा होती है, पर जब मालूम हो कि इन के द्वारा सत्य की सेवा नहीं हो रही है तब उन्हें बदल देना चाहिये। वह काफ़ी समय तक सत्य को सुदृढ़ बनाने में सहायक रही है इसलिये उस के मर जाने पर या विकृत हो जाने पर भी उस से वही आशा नहीं की जा सकती।

(१२)

प्रश्न—अन्तर्राष्ट्रीय लिपि या भाषा के क्षेत्र में आप राष्ट्रीय या प्रांतीय भाषाओं को कितना स्थान देंगे?

उत्तर—संसार की एक ही भाषा और एक ही लिपि बनाने का ध्येय होने पर भी अभी लम्बे समय तक राष्ट्रीय और प्रांतीय भाषा-लिपि को खासकर भाषा को काफी स्थान देना होगा।

एक भाषा की अनेक बोलियों को महत्व देने की जरूरत नहीं है, पर शिक्षा-प्रचार में प्रांतीय और राष्ट्रीय भाषाओं का काफी उपयोग होना चाहिए। शिक्षा-प्रचार हमें एक या आधी पीढ़ी में अधिक से अधिक करना है, जब कि अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के प्रचार के लिए पीढ़ियाँ चाहिये, और फिर भी उसकी सफलता की मात्रा में सन्देह है।

रूस ने इस मामले में काफ़ी अच्छा काम किया है। रूस के सोवियत संघ में अनेक प्रान्त और राज्य हैं, उन में अनेक प्रान्त ऐसे हैं जहां के लोगों की भाषा रूसी नहीं है, पर रूस की साम्य-वादी सरकार ने वहां की शिक्षा आदि सब कारबार वहां की प्रान्तीय भाषाओं में ही किया है। इस का फल यह हुआ है कि वहां एक ही

पीढ़ी के भीतर प्रायः सभी लोग शिक्षित ही नहीं, सुशिक्षित हो गये है। हां! लिपि जरूर बदल दी गई है पर इस से प्रगति में कोई बाधा नहीं आने पाई।

यही नीति हमें हिन्दुस्तान सरीखे देश के लिये स्वीकार करना चाहिये। प्रारम्भिक से लेकर ऊंचा से ऊंचा शिक्षण हमें हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली, कनड़ी आदि भाषाओं में करना चाहिये। हां! साथ ही एक राष्ट्रीय-भाषा को भी अपना लेना चाहिये, जो कि अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के क्षेत्र में काम आये। इसी प्रकार राष्ट्रीय भाषा को सुरक्षित रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय भाषा को अपना लेना चाहिये। पर साम्राज्यवाद के आधार पर लादी हुई कोई भाषा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा नहीं कही जा सकती। इस का तो काफी निष्पक्षता से चुनाव या निर्माण करना पड़ेगा

हां! इस विषय का अन्तिम लक्ष्य यही है कि एक दिन संसार की एक भाषा और एक लिपि हो जाय, और राष्ट्रीय और प्रान्तीय भाषाएँ उसी मानव-भाषा को अपनी अपनी भेंट देकर समाप्त हो जायँ

(१३)

प्रश्न—आपस में विवाह सम्बन्ध नहीं होने पर भी केवल धर्म की एकता से हिन्दू जाति आज एक है और परस्पर राष्ट्रीय संघर्ष नहीं करती तो हिन्दू-मुसलमानों के साथ अन्तर्जातीय सम्बन्ध को उत्तेजना देने से क्या लाभ? उन में केवल धार्मिक ऐक्य ही क्यों न फैलाया जाय?

उत्तर- हिन्दू-मुसलमानों में धार्मिक ऐक्य हो जाने से, मन्दिर-मसजिद, पूजा नमाज, आदि के झगड़े मिट जायेंगे और यह भी राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत अच्छा काम होगा । राष्ट्रीय संघर्ष पहिले की अपेक्षा कम होगा । फिर भी अन्तर्जातीय सम्बन्ध की आवश्यकता तो रहेगी ही ।

बात यह है कि जब तक किसी राष्ट्र में अनेक जातियाँ रहती हैं तब तक उन में स्थायी या दृढ एकता की आशा न करना चाहिये । उन में आपसी संघर्ष होते रहना और बाहर की किसी शक्ति के इशारे पर नाचते रहना स्वाभाविक या बहुत सम्भव है ।

आज यूरोप में या उस के किसी राष्ट्र में धार्मिक एकता होने पर भी, अथवा धर्म भेद बिलकुल गौण हो जाने पर भी जाति-भेद के कारण भयंकर संघर्ष होता है । अमेरिका में रहने वाला हब्शी आज भी गोरों के द्वारा जिन्दा जलाया जाता है यद्यपि गोरे और काले दोनों ही ईसाई हैं । सन् १९१८ के बाद यूरोप में जो राष्ट्रों की नई नई सीमायें बनीं उन के कारण एक जाति के आदमी दूसरी जाति के शासन में आगये थे, उसके कारण तभी से वहाँ राजनैतिक संघर्ष होते ही रहे हैं । इस लिये जाति-भेद को भी मिटाना चाहिये ।

जाति-भेद का सम्बन्ध जन्म से है इसलिये वह सकारणक हो या अकारणक, आवश्यक हो या अनावश्यक, स्थायी होता है । उसे स्थायी रूप में तोड़ने का सब से अच्छा उपाय है अन्तर्जातीय विवाह । इस से दोनों पक्षों में आत्मीयता तो बढ़ती ही है साथ ही आगे पैदा होने-वाली सन्तान में किसी एक पक्ष की जातीय कट्टरता की सम्भावना नहीं रहती या अपवाद रूप में क्वचित ही रहती है ।

इस देश ने आर्य अनार्य, तथा शक हूण आदि के द्वंद्वों के समय इसी नीति से काम लिया है और इस बात में काफ़ी सफलता पाई है।

आज हिन्दू समाज में वैवाहिक क्षेत्रों की विभिन्नता होने पर भी संघर्ष नहीं होता, इस कथन में कुछ सचाई है पर है कुछ ही, और उस कुछ के दो विशेष कारण हैं —

पहिला यह कि हिन्दू समाज आज दो प्रतिस्पर्द्धियों से लड़ रहा है इसलिये हिन्दू-समाज की सभी जातियाँ समान स्वार्थ के कारण अपने भीतरी संघर्षों को भूली हुई हैं। हिन्दुस्थान विदेशियों के कब्जे में है और हिन्दुस्तान में हिन्दुओं की संख्या अधिक है इसलिये देश को विदेशियों के पंजे से निकालने की जिम्मेदारी वे अधिक अनुभव करते हैं, इसलिये उन में राष्ट्रीयता का भाव जग रहा है और इसलिये वे आपस के जातीय संघर्षों से बचने की कोशिश करते हैं।

दूसरा कारण यह है कि हिन्दुओं की कई हजार जातियाँ हैं। इतने टुकड़े होने के कारण कोई एक टुकड़ा इतना बड़ा नहीं है कि जो अन्य सब को अभिभूत कर सके इसलिये भी संघर्ष टला हुआ है।

इन दो कारणों से संघर्ष कुछ कम जरूर है पर इस का मतलब यह नहीं है कि हिन्दुओं में धर्म की एकता हो जाने से जातीय संघर्ष निःशेष हो गये हैं या राष्ट्रीय जीवन में काफ़ी अड़ंगा नहीं जमाते हैं। जहाँ किसी एक जाति को मौका मिलता है वहाँ अवश्य जातीय संघर्ष उग्र रूप में दिखाई देता है। दक्षिण भारत में ब्राम्हण और अब्राम्हण में काफ़ी संघर्ष है। जब कभी किसी म्युन्सिपलिटी

आदि में एक ब्राह्मणों का बहुमत हो जाता है तब उन के शासन में एक भी अब्राह्मण म्युन्युसपल आदि की नौकरी नहीं पा सकता इसी प्रकार जब अब्राह्मणों के हाथ में शासन आ जाता है तब ब्राह्मण नहीं पा सकता। कर्नाटक में कहीं कहीं लिंगायत और गैरलिंगायतों में मैंने यही द्वंद देखा। राष्ट्रीय क्षेत्र में यहाँ तक कि राष्ट्रीय कांग्रेस में भी कहीं कायस्थ, कहीं अग्रवाल कहीं माहेश्वरी आदि के छिपे हुए दल बने हुए हैं। सैकड़ों जातीय समाएँ हैं जो अपनी शक्ति के अनुसार राजनीति, जीविका, पद आदि के बारे में अपने अपने पृथक स्वार्थों का हिसाब किताब लगाती रहतीं हैं और राष्ट्रीयता के पहिले उन्हें अपने इन्हीं स्वार्थों का खयाल रखना पड़ता है।

जब कोई सार्वजनिक चुनाव होता है तब वहां भी जातीयता अपना पूरा असर दिखलाती है। और इसी से भीतर ही भीतर राष्ट्रीयता खोखली हो जाती है।

यद्यपि थोड़े न थोड़े वर्ग-द्वंद हरएक देश में होते हैं पर इन वर्ग-द्वंदों में और जातीय द्वंदों में फर्क है। जातीय द्वंदों का सम्बन्ध किसी खास योग्यता गुण आदि से नहीं होता उस का सम्बन्ध सिर्फ़ जन्म से होता है इसलिये जातीय द्वंद एक तरह से अमिट होता है जब अन्य वर्ग-द्वंद ऐसा अमिट नहीं होता। कृत्रिम होनेसे वह जल्दी मिट सकता है। आज एक आदमी धनी-वर्ग में है कल गरीब में पहुँच सकता है, आज एक नौकर-वर्ग में है कल व्यापारी वर्ग में पहुँच सकता है। फिर ये वर्ग परस्पर पूरक होने से जल्दी समन्वित हो सकते हैं जब कि जातीय वर्ग अधिक से अधिक मात्रा में अपनी अपनी दुनिया अलग रखना चाहते हैं और अपने में ही पूर्णता का

दर्शन करते हैं।

जातीय वर्गों का सम्बन्ध जन्म से होने पर भी विवाह-क्षेत्र की सीमा से ही उन का ठीक ठीक पता लगता है। इसलिये इन वर्गों को मानवता में, राष्ट्रीयता में या और किसी विशाल वर्ग में परिणत कर देना हो तो यह जरूरी है कि उन की वैवाहिक क्षेत्र की मर्यादा विशाल से विशाल बनाई जाय। अगर हम चाहते हैं कि भारत एक राष्ट्र हो तो नागरिकता के अधिकार के साथ रहने-वाले उस के तमाम निवासियों में पारस्परिक विवाह सम्बन्ध का द्वार खुला रहना चाहिये और उस द्वार का उपयोग भी होना चाहिये।

हां! विवाह सम्बन्ध के लिये सदाचार-कुलशील, अर्थोपार्जन, सद्आजीविका, भोजन-रुचि, अनन्यानुराग, सद्विचार, शिक्षण, स्वास्थ्य, सुन्दरता, अनुकूलनिवास, समवयस्कता, इन बारह गुणों का विचार अवश्य करना चाहिये। इन के अनुकूल होने पर जाति-पांति का विचार छोड़कर विवाह सम्बन्ध जोड़ना चाहिये।

क्या हिन्दू और मुसलमान, और क्या हिन्दुओं की हजारों जातियाँ सब में परस्पर विवाह सम्बन्ध की आवश्यकता है। जिस से हिन्दुस्तान एक अखंड राष्ट्र एक अखंड कौम बने। जरूरत तो इस बात की भी है कि उपर्युक्त बारह गुणों का विचार करके (देखो सत्यामृत व्यवहार कांड का पहिला अध्याय) विश्व के समस्त राष्ट्र और कौमों के नागरिकों में परस्पर विवाह सम्बन्ध होने लगें जिस से कट्टर राष्ट्रीयता का नाश हो और सब राष्ट्र मानवता के सेवक बनें। खैर! अभी तो हमारे सामने हिन्दुस्तान का ही सवाल है! इस देश की अखंडता को दृढ और पूर्ण बनाने के लिये धर्म-समभाव के साथ

जाति समभाव को भी व्यावहारिक बनाने की जरूरत है।

इस विषय में अन्य दृष्टियों से भी बहुत कुछ कहा जा सकता है अन्यत्र कहा भी गया है (देखो—सत्यामृत दृष्टिकांड पाँचवाँ अध्याय जाति समभाव का प्रकरण) यहाँ संक्षेप में मुख्य मुख्य सूचनाएँ कर दी जाती हैं।

१—जातिपाँति की कल्पना से विवाह क्षेत्र संकुचित हो जाता है इसलिये चुनाव में कठिनाई जाती है।

२—इन सीमाओं के बाहर भी जब सुयोग्य सम्बन्ध मिल जाता है तब दोनों को या तो प्रेम सम्बन्ध तोड़ कर जीवन बर्बाद करलेना पड़ता है या आत्महत्या कर लेना पड़ती है या बहिष्कृत होकर अनिच्छापूर्वक किसी दूसरे समाज में जाना पड़ता है।

३—हिन्दू और मुसलमानों में विवाह सम्बन्ध आज भी होते हैं हजारों लाखों हिन्दू महिलाएँ मुसलमानों के घर में गृहणियाँ बनी हुई हैं पर इस से हिन्दू और मुसलमानों को कोई भी सांस्कृतिक लाभ नहीं हो रहा है। क्यों कि ऐसे विवाह दोनों समाजों में कोई सामाजिक सम्बन्ध—नाता रिश्ता सहयोग—नहीं पैदा करते जिस से हिन्दू समाज के गुण मुसलमानों में पहुँचें और मुसलिम समाज के गुण हिन्दुओं में पहुँचें बल्कि ऐसी घटनाओं को मानापमान का सवाल समझ कर दोनों कौमों में लड़ाई झगड़े पैदा होते हैं। अगर दोनों समाजों में उपर्युक्त बारह गुणों का विचार करके परस्पर विवाह सम्बन्ध होने लगें तो हिन्दू और मुसलमानों में परस्पर नाते रिश्ते कायम होने लगें और एक दूसरे की खूबियों को अपनाने लगें।

४—जब किसी जाति के लोग किसी ऐसी जगह बस जाते हैं

जहाँ उन की जाति की अधिक बस्ती नहीं होती तब उन के वैवाहिक सम्बन्ध बड़े कठिन हो जाते हैं । संकुचितता के कारण अनमेल विवाह तो होते ही हैं पर कन्याविक्रय या वरविक्रय की कुप्रथाएँ भी प्रचलित हो जाती हैं ।

५-एक जाति के लोग जब किसी दूसरे प्रान्त आदि में बस जाते हैं तब शताब्दियों तक बसे रहने पर भी वे उस प्रान्त की जनता में तेल पानी की तरह अलग दिखाई देते हैं । वहाँ की जनता उन्हें लुटारू समझती रहती है और ये भी अपने को परदेशी । इसी कारण कभी कभी जातीय उपद्रव भी होते रहते हैं ।

इस प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय सभी दृष्टियों से भारत की सब जाति उपजातियों में, हिन्दू-मुसलमान ईसाइयों में, उपर्युक्त बारह गुणों का विचार कर परस्पर विवाह सम्बन्ध होना चाहिये ।

(१४)

प्रश्न—क्या हिन्दुस्तानी भाषा को आप कभी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनने योग्य मान सकते हैं ।

उत्तर—विश्वभाषा का तो स्वतंत्र रूप में निर्माण ही करना चाहिये । 'सत्यामृत' में विश्वभाषा और विश्व लिपि के निर्माण के बारे में दस दस सूचनाएँ दी गई हैं उन के अनुसार विश्वभाषा का निर्माण होना चाहिये ।

पर मानलो कि सभी देशों का जन-मत इस बात से सहमत न हो कि विश्वभाषा का अलग से निर्माण किया जाय किन्तु वह थोड़े बहुत सुधार के साथ किसी एक भाषा को ही विश्वभाषा के लिये चुनने की तरफ झुके तो ऐसी हालत में हिंदुस्तानी भाषा भी विश्वभाषा

के चुनाव में उम्मेदवार के रूप में रक्खी जा सकती है। और सरलता की दृष्टि से यह भाषा संसार की अन्य भाषाओं से अच्छी साबित हो तो इसे विश्वभाषा बनाया जा सकता है।

हिन्दुस्तानी भाषा विश्वभाषा बन तो इस से प्रसन्नता की अनुभूति तो होगी पर हमें इस अनुभूति पर विजय प्राप्त कर निःपक्ष न्याय के लिये ही तैयार रहना चाहिये. इस न्याय में अगर हिन्दुस्तानी चुनी जाय तो अच्छा ही है। अपनी होने के कारण उसे ही चुनवाना चाहिये ऐसा पक्षपात उचित नहीं है।

(१५)

प्रश्न—मनुष्य पाप के परिणाम को भोगना नहीं चाहते, फिर पाप को क्यों चाहते हैं?

उत्तर—पाप का फल तो दुःख-रूप है, इसलिये उसे न चाहना स्वाभाविक है। पर ,पाप की दुःख-रूपता हरएक की समझ में नहीं आती, स्थूल दृष्टि से वह आनन्द-रूप मालूम होता है। ज्ञान और संयम की दृष्टि से ज्यों ज्यों मनुष्य का विकास होता जाता है त्यों त्यों पाप की दुःख-रूपता का अनुभव होते लगता है। साधारण व्यक्ति झूठ बोलने में या चोरी करने में विशेष कष्ट का अनुभव नहीं करता; परन्तु एक विकासित प्राणी इस में मर्मान्तिक पीड़ा का अनुभव करता है। इसीलिये वह सिर्फ़ परिणाम की दृष्टि से ही नहीं, किन्तु पाप करते समय की बेचैनी की दृष्टि से वह पाप से बचने की कोशिश करता है।

दूसरा और व्यापक कारण यह है कि पाप और पाप के परिणाम में काल का अन्तर इतना रहता है और प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म

है कि दोनों के सम्बन्ध पर लोगों को विश्वास नहीं होता। ईश्वरवाद या कर्मवाद के गीत वे कितने ही गाएँ पर उन की परा-मनोवृत्ति में ईश्वरवाद और कर्मवाद को कोई जगह नहीं होती। यही कारण है कि ईश्वर का दिन-रात गुण-गान करने वाले भी समाज या सरकार की आँख में धूल झोंक देने पर ईश्वर की आँख में भी धूल झोंकना समझ लेते हैं। इसीलिये छिपकर वे असीम पाप करते हैं और उस छिपाये रखने के लिये हजारों तरह की झूठ बोलते हैं।

प्रश्न– क्या एक दूसरे की उन्नति की प्रतिस्पर्द्धा के कारण सामूहिक विकास साधने के लिये अपनी अपनी संस्कृति के आग्रह की आवश्यकता नहीं है? हरएक वृक्ष बाहर के वातावरण से अनेक वस्तुओं को ग्रहण करता है, प्रकाश और जल पाकर बढ़ता है परन्तु अपने बीज को नहीं छोड़ता। उसी प्रकार भिन्न भिन्न वृक्षों की तरह भिन्न संस्कृतियों की विशेषताओं को आप मिलाना क्यों चाहते हैं?

उत्तर– मानव जीवन को देश-काल-पात्र के अनुरूप अच्छा से अच्छा और सुखमय बनाने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है उस का नाम है संस्कृति, और दूसरे को कष्ट न हो या उस के साथ अन्याय न हो-इस प्रकार के व्यवहार का नाम है सभ्यता। संस्कृति और सभ्यता के इसी मुख्य और सामान्य रूप के अनुसार संस्कृतियों और सभ्यताओं में वैसी विभिन्नता ही नहीं है जिस के मिटाने की या रखने की कोशिश की जाय। फिर भी देश-काल-पात्र के अनुसार उन के बाहरी या व्यावहारिक रूपोंमें फर्क होता है उसी का यहां विचार करना है।

जो अन्तर देश-काल के अनुरूप हैं वे तो रहना ही

चाहिये। शौच का जो तरीका बर्फीले देश में उपयोगी हो सकता है उस का अनुकरण गरम देशों में करने की जरूरत नहीं है, रेगिस्तान में अगर लकड़ी कम और जमीन ज्यादः है तो मुर्दे गाड़ना ही ठीक है पर जहां जमीन कम या जलाने की सामग्री ज्यादः है वहां मुर्दा जलाना ही ठीक है। इसी प्रकार वेषभूषा शिष्टाचार आदि के बारे में भी विचार करना चाहिये। इस प्रकार के अन्तर रहें तो कोई बुराई नहीं है। इस प्रकार के अन्तरों को मैं मिटाना नहीं चाहता।

पर जब सभ्यता और संस्कृति के रूप में मोह और अहंकार पैदा हो जाता है परिस्थिति बदल जाने पर और वह रूप दुरुपयोगी या अनुपयोगी हो जाने पर भी लोग उस से चिपके रहना चाहते हैं तब सभ्यता और संस्कृति के बाहरी रूपों का भेद विघातक हो जाता है। इसलिये संस्कृतियों और सभ्यताओं के विषय में काल-मोह और स्वत्व-मोह को दूर ही रखना चाहिये।

इतनी प्रस्तावना के बाद अब प्रश्न के शब्दों पर क्रम से विचार करना चाहिये।

सामूहिक विकास साधने के लिये हो या वैयक्तिक विकास साधने के लिये, प्रतिस्पर्द्धा उपयोगी हो सकती है। जैसे, दो दलों में यह प्रतिस्पर्द्धा हो सकती है कि हम दूसरे दल की अपेक्षा अधिक बलवान, अधिक ज्ञानी, अधिक संयमी, अधिक सेवक बनें। यह अच्छी है पर इस के लिये अपनी अपनी संस्कृति के आग्रह की आवश्यकता नहीं है; किन्तु सत्य संस्कृति के आग्रह की आवश्यकता है। अपनी संस्कृति सत्य हो, कल्याणमय हो, तब भी उस का

अपनेपन के कारण आग्रह न होना चाहिये किन्तु सत्यमय या कल्याणमय होने के कारण आग्रह होना चाहिये। जहां ऐसी बात हुई कि संस्कृति के रूप में देश-काल का थोड़ा बहुत भेद होने पर भी संस्कृति एक ही हो जायगी। अहंकार न रहने के कारण संस्कृतियाँ पूरक हो जायँगी, उन में समन्वय होगा।

पर जहां सत्य का आग्रह न होकर अपनेपन का आग्रह होता है वहां संस्कृतिक विकास न होकर संस्कृतिक जीवन की विडम्बना होने लगती है। संस्कृति के स्थान पर कुरूढ़ियाँ या अन्धरूढ़ियाँ स्थान जमा लेती हैं। और विकास के नाम पर पतन होने लगता है।

किसी देश की संस्कृति में लम्बा घूंघट स्त्रियों के लिये ज़रूरी है, किसी देश में उन के पैर छोटे छोटे रखना—इतने छोटे कि वे चल-फिर न सकें, संस्कृति के नाम पर कहीं स्त्रियों को दलित किया जाता है—कहीं शूद्रों को, इस प्रकार कुरूढ़ियाँ संस्कृति के नाम पर जिन्दा हैं इन के आग्रह से सामूहिक विकास नहीं—सामूहिक पतन होता है, इसलिये अपनेपन का मोह छोड़कर सत्य का आग्रह करना चाहिये और सत्य की–जनहित की–कसौटी पर-कसकर अपनी संस्कृति के दोष दूर करते रहना चाहिये और दूसरों की संस्कृति के गुण ग्रहण करना चाहिये तथा नव-निर्माण भी करना चाहिये। बस ! ऐसा होने पर वह संस्कृतिक एकता हो जायगी, जिसे मैं चाहता हूं। उस में आवश्यक विशेषताएँ रह जायँगी और अनावश्यक विशेषताएँ नष्ट हो जायँगी।

आवश्यक या पूरक विविधता को मैं नष्ट नहीं करना चाहता विविध वृक्षों के समान विविध मनुष्यों या वर्गों का रहना भी ज़रूरी

है। स्त्री और पुरुष अपनी अपनी विशेषता लिये ही रहेंगे। रहन-सहन, वेषभूषा, कार्य-क्षेत्र और स्वभाव-भेद उन में रहेगा। वे बाहर के वातावरण से अनेक वस्तुओं को ग्रहण करेंगे और अपने अपने रंग-ढंग में ढालकर अपनायेंगे। स्त्री अपना स्त्रीत्व और पुरुष अपना पुरुषत्व न छोड़ेगा।

इसी प्रकार ब्राह्मण [विद्वान्], व्यापारी, योद्धा, शिल्पी, शरीर-श्रमी आदि भी अपनी अपनी संस्कृति के अनुसार विशेषता लिये हुए बाहर के वातावरण का उपयोग करेंगे।

मतलब यह कि समाज के सर्वांगीण विकास के लिये जिन विविध संस्कृतियों की ज़रूरत है—वे रहें और बढ़ें, विविध वृक्षों से बने हुए उपवन की तरह विविध वर्णों से बने हुए समाज की शोभा बढ़े। पर रूढ़िमोह और अहंकार के कारण निरर्थक और हानिकारक विविधता न रहे।

हम तो ऐसी ही पगड़ी लगाते आये हैं और ऐसी ही पोशाक पहिनते आये हैं, हमारे यहां तो ऐसा ही रिवाज है आदि का हठ व्यर्थ है। इन बातों का संस्कृति से कोई सम्बन्ध भी नहीं है और न ऐसी बातों की वृक्ष-भेद से तुलना कर सकते हैं। देशकाल आदि का विचार करना चाहिये फिर इन के जाने-आने से कुछ बनता बिगड़ता नहीं, बल्कि झूठा मोह नष्ट होता है, मानव-मात्र में सहयोग का द्वार खुलता है गुण का आदर बढ़ता है विवेक जगता है।

अपनेपन के आग्रह के कारण तो आग्रह ही हाथ आता है, न विकास करनेवाली प्रतिस्पर्द्धा पैदा होती है और न विविधता में सहयोग या समन्वय होता है। इसीलिये मैं निरर्थक या अनर्थकर विशेषताओं को मिटाना चाहता हूं।

(१७)

प्रश्न—सत्यसमाज के तत्व प्रयोजन [उपयोगिता] से ही सम्बन्ध रखते हैं। कभी किसी तत्त्व को अनुपयोगी या अप्रयोजनीय सिद्ध कर दिया जाय तो उसे छोड़ा जा सकता है। क्या सत्यसमाज की दृष्टि में ऐसा कोई प्रयोजनातीत तत्त्व नहीं है ? जिसके लिये सर्वस्व का यानी प्रयोजन [अर्थात् उपयोगिता] का भी बलिदान किया जा सके ?

उत्तर—सत्यसमाज की उपयोगिता का दायरा इतना विशाल है कि दुनिया जिसे प्रयोजनातीत कहती है—वह भी उस में शामिल हो जाता है। जैसे कोई मनुष्य दुनियादारी के सभी ऐहिक सुखों की उपेक्षा करके सिर्फ ईश्वर-प्राप्ति में ही जीवन अर्पण कर दे तो भी सत्यसमाज उसमें उपयोगिता देखेगा, उसकी दृष्टि में ईश्वर-प्राप्ति का मतलब है—दुःखों से छुटकारा, असीम शांति, पूर्ण निराकुलता अर्थात् असीम सुख। हाँ, इतनी बात और है कि कोई कोई व्यक्ति वैयक्तिक सुखों की पर्वाह न करके विश्व-सुख की पर्वाह करते हैं। वैयक्तिक-सुख की दृष्टि से विश्व-सुख कदाचित् प्रयोजनातीत सिद्ध हो जाय फिर भी सत्यसमाज की दृष्टि में वह प्रयोजनातीत नहीं है, क्योंकि विश्व-सुख ही सत्यसमाज की दृष्टि में महान प्रयोजन है।

हाँ, जो लोग ऐहिक या निकट वर्तमान की उपयोगिता को ही उपयोगिता समझते हैं, सत्यसमाज उनसे सहमत नहीं है। सत्य-समाज तो यथाशक्य सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से समष्टिगत उपयोगिता का विचार करता है और इस व्यापक व्याख्या के भीतर वे सब तत्त्व आ जाते हैं, जिन्हें लोग प्रयोजनातीत कहते हैं।

(१८)

प्रश्न—आत्म-साक्षात्कार या कल्याण के नियमों का संपूर्ण ज्ञान 'सर्वज्ञत्व' है। विश्व-साक्षात्कार अर्थात् सृष्टि के सम्पूर्ण व्यवहारों का विज्ञान कोई नहीं कर सकता, —ऐसा आप का मन्तव्य है; क्योंकि विश्व का अन्त नहीं। तो फिर, आत्म-साक्षात्कार से विश्व-साक्षात्कार के क्षेत्र को उत्कृष्ट क्यों नहीं माना जाता ? आत्मज्ञानियों से विश्व-ज्ञान सम्बन्धी उन्नति करने वाले वैज्ञानिकों का स्थान नीचा क्यों है ? उन्हें बहिरात्मा कहकर उपेक्षित क्यों किया जाता है ?

उत्तर—असम्भव या कठिन होना एक बात है और उत्कृष्ट या बहुमूल्य होना दूसरी। गधे के सिर पर सींग आना असम्भव है, पर अगर आ जायँ तो इसका यह मतलब नहीं है कि वह संसार की सब से बड़ी बहुमूल्य चीज़ होगी। इसी प्रकार विश्व-साक्षात्कार असम्भव होने पर भी आत्म-साक्षात्कार की अपेक्षा उत्कृष्ट नहीं हो सकता। यही कारण है कि आत्म-ज्ञानियों या योगियों की अपेक्षा भौतिक विज्ञानियों का स्थान ऊँचा नहीं माना जा सकता, बल्कि नीचा ही माना जा सकता है।

मतलब यह है कि आत्म-ज्ञान का सम्बन्ध स्व-पर-कल्याण या सुख-शांति से जितना है—उतना भौतिक विज्ञान का नहीं। भौतिक-विज्ञान तो सुख की सामग्री उपस्थित कर देगा, पर उस सामग्री से स्वर्ग के समान नरक भी बन सकता है, और आत्मज्ञान के अभाव में मनुष्य प्रायः नरक की तरफ ही झुकता है। आखिर आज की दुनिया में यही तो हो रहा है। नदी, पहाड़, समुद्र आदि की पर्वाह न करके इधर से उधर जल्दी पहुंचा देनेवाले हवाई

जहाज सब से अधिक बम-वर्षा के काम में आ रहे हैं और लाखों निरीह प्रजाजनों की, स्त्री और बच्चों की हत्या कर रहे हैं। मनुष्य के श्रम को बचानेवाली मशीनें पूँजीवाद का भयंकर रूप दुनिया के सामने पेश कर रही हैं और दूसरी तरफ अधिकांश जनता के श्रम, स्वास्थ्य और मनुष्यता का हरण कर रही हैं। इसीलिये आत्म-ज्ञान के बिना मिलने-वाला भौतिक-ज्ञान प्राणों के बिना मिलनेवाले शरीर के समान है, जो कि अपनी दुर्गंध से नरक की रचना कर रहा है।

यह ठीक है कि बिना शरीर के आत्मा कुछ काम नहीं कर सकता; फिर भी, शरीर की अपेक्षा आत्मा का मूल्य ही अधिक है। इसी प्रकार भौतिक ज्ञान की अपेक्षा आत्मज्ञान का मूल्य अधिक है।

जरा हम दो समाजों की कल्पना करें। एक समाज ऐसा है कि जिस में हवाई-जहाज, रेल, तार, मोटर, बिजली आदि सभी वैज्ञानिक साधन हैं, परन्तु उस समाज के व्यक्ति एक दूसरे के दुःख में शामिल नहीं होते, दिन-रात छीना-झपटी में लगे रहते हैं, दिन-रात षड्यन्त्र रचते रहते हैं, ईर्षा-द्वेष-अहंकार आदि से दिन-रात जलते रहते हैं। दूसरा समाज ऐसा है, जिसमें ये सब वैज्ञानिक साधन नहीं हैं, परंतु जहाँ के लोग परस्पर प्रेम से मिलकर रहते हैं, एक-दूसरे के सुख-दुःख में दिल से काम आते हैं, ईर्षा-द्वेष-अहं-कार-कृतघ्नता आदि जहाँ ढूँढे नहीं मिलते, सब सन्तुष्ट हैं तो यह समाज उपर्युक्त वैज्ञानिक समाज की अपेक्षा हजारों गुणा अच्छा और उत्कृष्ट है।

इस का यह मतलब नहीं है कि भौतिक-ज्ञान हेय या घृणित है। यहां तो सिर्फ़ दोनों की उपयोगिता और बहुमूल्यता की तुलना की जा रही है, और उस तुलना में आत्म-ज्ञान ऊँचे दर्जे का ठहरता है। यों ज़रूरत तो दोनों की है। अकेला भौतिक-ज्ञान वाला जगत् अगर नरक है और अकेला आत्म-ज्ञान वाला जगत् अगर मर्त्य-लोक है तो दोनों का समन्वय करने वाला जगत् स्वर्ग-लोक है। शून्य की क़ीमत एक के आगे भले ही नहीं के बराबर हो, पर जब वह एक से समन्वित हो जाता है तब एक की क़ीमत को दस गुणा कर देता है। उसी प्रकार आत्म-ज्ञान और भौतिक-ज्ञान समन्वित होकर अकेले अकेले की अपेक्षा कई गुणी कीमत कर देते हैं। फिर भी, एक और शून्य के मूल्य में जैसा फ़र्क़ है वैसा ही आत्म-ज्ञान और भौतिक-ज्ञान में समझना चाहिये। इसीलिये आत्म-ज्ञानियों को भौतिक-ज्ञानियों की अपेक्षा महान् कहा है।

(१९)

प्रश्न—कहते हैं कि 'ईश्वर उन्हीं की मदद करता है जो अपनी मदद आप करते हैं', मगर जो अपनी मदद आप कर सकता है। उसे परमात्मा की मदद का क्या अर्थ है ?

उत्तर—'जो विद्यार्थी परिश्रम करता है उसे अध्यापक भी दिल से पढ़ाता है'—इस वाक्यमें जैसे परिश्रम करना और दिल से पढ़ाना सहयोगी हैं उसी प्रकार खुद कोशिश करना और ईश्वर की मदद मिलना सहयोगी हैं। हर एक बात में निमित्त और उपादान की योग्यता का विचार करना पड़ता है। एक भी अयोग्य हो तो काम

नहीं चलता। इसी प्रकार जो केवल दैव के भरोसे रहते हैं—वे भूल करते हैं। आलसी अकर्मण्य आदमियों की मदद ईश्वर या दैव भी नहीं करता, यही बात समझाने के लिये उपर्युक्त लोकोक्ति प्रचलित हुई है।

बात यह है कि मनुष्य को दैव की चिन्ता ही न करना चाहिये उसे सदा यत्न का खयाल रखना चाहिये, जैसे विद्यार्थी का काम है कि वह मिहनत करे—अध्यापक अपना काम आप करेगा। इसी प्रकार मनुष्य का काम है कि वह पूरी कोशिश करे ईश्वर अपना काम आप करेगा। मतलब यह कि अगर ईश्वर और दैव कोई चीज़ हैं तो भी प्रयत्न करना मनुष्य का कर्तव्य है और अगर वे चीजें नहीं हैं तो भी प्रयत्न करना मनुष्य का कर्तव्य है। हर हालत में मनुष्य को प्रयत्नशील बनाना इस लोकोक्ति का अर्थ है।

[२०]

प्रश्न—जीवन का ध्येय आप आनंद मानते हैं और ईश्वर 'सत्य' को कहते हैं। 'सत्य' अस्तित्व के चेतना-शून्य नियमों का समूह है जिसे प्रकृति कहते हैं। चित् आनन्द शून्य चेतना शक्ति का पुंज है जिसे जीव कहते हैं, उसे ही हम ब्रह्म या ईश्वर क्यों न कहें ? इससे भारतीय दर्शन पद्धति के 'ईश्वर प्राप्ति' नामक ध्येय का भी समन्वय हो जाता है।

उत्तर—जीवन के ध्येय के रूप में और कर्तव्य-निर्णय की कसौटी के रूप में मैंने आनन्द का उल्लेख बार बार किया है, पर उसे ईश्वर नहीं कहा, क्योंकि वह भोग्य है। ईश्वर भोग्य नहीं किन्तु भोग्य-प्रदाता है आनन्द-प्रदाता है। जैसे अन्न के लिये हम अन्नदाता का

जयजयकार करते हैं, उसी प्रकार आनन्द के लिये आनंदप्रदाता ईश्वर का जयजयकार किया जाता है। सत्य आनन्द-प्रदाता है इसलिये सत्य ईश्वर है।

सत्य का अर्थ सिर्फ सत् या प्रकृति नहीं है, सत्य तो सत् का-प्रकृति का-अधिष्ठाता है, चित् का-जीव का-भी अधिष्ठाता है और आनन्द का भी अधिष्ठाता है। इस प्रकार सत्य सत् चित् और आनन्द का अधिष्ठाता या सच्चिदानन्द रूप है।

आनन्द को ध्येय कहने और ईश्वर को ध्येय कहने में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि ईश्वर-प्राप्ति के बाद आनद-प्राप्ति अनिवार्य है इसलिये ईश्वर-प्राप्ति को ध्येय कहने का अर्थ आनन्द-प्राप्ति अपने आप हो जाता है।

जैसे, कोई विद्यार्थी विद्या के लिये अपने गुरु से कहे-गुरुदेव, मुझे तो आप की कृपा चाहिये, तो जैसे गुरु-देव की कृपा के ध्येय में विद्या-प्राप्ति का ध्येय समाया हुआ है, उसी प्रकार ईश्वर-प्राप्ति के ध्येय में आनन्द-प्राप्ति का ध्येय समाया हुआ है।

[२१]

प्रश्न-प्रकृति के ऐसे नियम क्यों हैं कि एक को सुख और दूसरे को दुःख मिलता है?

सुख-दुःख भ्रम हैं या वास्तविक? यदि भ्रम हैं तो प्रतीत क्यों होते हैं? यदि वास्तविक हैं तो ज्ञानी को उन की पर्वाह क्यों नहीं होती?

उत्तर-प्रकृति जड़ है, विवेक शून्य है, उस की दृष्टि में जैसा सुख वैसा ही दुःख। सुख दुःख का विवेक है प्राणी को-खासकर मनुष्य को, उसे ही प्रकृति के भंडार में से छान छान कर सुख लेना

है और दुःख छोड़ देना है। अगर विवेक से काम किया जाय तो दुःख-सामग्री भी सुख-सामग्री बनाई जा सकती है, इसीलिये संखिया सरीखा विष भी शोधकर औषध बना लिया जाता है। और विवेक से काम न लिया जाय तो सुख-सामग्री भी दुःख-सामग्री बनाई जा सकती है इसीलिये अन्नपान को भी अपथ्य बनाकर लोग बीमार पड़ते हैं। प्रकृति के काम किसी को सुखकर भी हो सकते हैं किसी को दुःखकर भी, उन के अनुकूल बनकर सब को सुख-सामग्री के रूप में परिणत कर लेना मनुष्य का काम है।

बात यह है कि प्रकृति में विभिन्नता है और मनुष्य में भी विभिन्नता है, अगर दोनों का मेल बैठा दिया जाय तब सभी सुखी हो सकते हैं। अगर दोनों का मेल न बैठाया जाय तो सभी दुःखी हो सकते हैं। इस में प्रकृति का कोई अपराध नहीं है और अगर हो भी तो उस का अपराध साबित करने से कोई फायदा नहीं। प्रकृति तर्क के अगोचर है। उसमें कार्य-कारण विचार नहीं किया जा सकता है, वह स्वभाव है।

सुख दुःख स्थायी नहीं हैं पर भ्रम भी नहीं हैं, वास्तविक हैं इसीलिये प्रतीत होते हैं। पर हरएक कार्य के दो कारण होते हैं एक निमित्त दूसरा उपादान। अगर दो में से किसी एक की कमी हो तो कार्य न होगा या किसी एक में त्रुटि हो तो कार्य में भी त्रुटि होगी।

सुख और दुःख के बाह्य निमित्त परिपूर्ण रहने पर भी अगर उपादान ठीक न हो तो सुख दुख पूरे रूप में प्रगट नहीं होते। सुख दुःख का उपादान कारण मन है वह ज्ञानी का दूसरे ही ढंग का

होता है इसलिये निमित्त परिपूर्ण रहने पर भी उसका फल ज्ञानी के जीवन में वैसा परिपूर्ण दिखाई नहीं देता।

मन पर अगर असर न पड़े तो बाहरी निमित्त व्यर्थ हो जाते हैं। हाँ! मन पर असर न पड़ने के पांच कारण होते हैं। १. कारण की निर्बलता, २. उपादान (मन) की अयोग्यता, ३—अन्यासक्ति, ४—राग, ५—समभाव।

१—कारण की निर्बलता का परिणाम यह होता है कि उसका असर अधिक से अधिक इन्द्रियों तक ही पड़ता है मन तक उसका असर ही नहीं पहुंचता। जैसे रास्ते चलते समय हलके पतले कंकड़ पैरों पर उन का थोड़ा बहुत असर तो होता है मगर वह इतना हलका कि मन उनका संवेदन भी नहीं कर पाता। तब दुःख नहीं होता।

२—मन जब इतना विकसित नहीं हो पाता कि वह संवेदन कर सके तब उपादान की अयोग्यता के कारण सुख दुःख का अनुभव नहीं हो पाता। किसी को व्यंग में कुछ कहा, पर उसने समझा ही नहीं। उसे न सुख हुआ न दुःख। यही कारण है कि एक समझदार आदमी को एक छोटी सी बात से मर्मान्तिक वेदना होने लगती है, और कला की सूक्ष्म अभिव्यक्ति से असीम आनन्द होने लगता है जब कि एक अजानकार मूर्ख को या पशु को कुछ भी नहीं लगता।

३—मन दूसरी जगह लगा हो तो भी सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। कारण प्रबल है, मन भी समझ सकता है, पर आसक्ति अन्यत्र होने से सुख-दुःख रूप कार्य नहीं होने पाता। एक आदमी

किसी को जोर-जोर से गाली दे रहा है पर सुननेवाला सुनता ही नहीं, वह किसी दूसरे काम में मस्त है इसलिये उसे दुःख नहीं होता।

जो लोग ईश्वर में या और किसी ध्येय में तन्मय हो जाते हैं उन पर संसारी सुख-दुःख का प्रभाव नहीं पड़ता उस का कारण भी एक तरह की अन्यासक्ति-अद्भुत भली अन्यासक्ति—कही जा सकती है।

४- राग-भाव, चाहे वह प्रेम हो और चाहे वह मोह हो, से भी सुख दुःख का असर नहीं पड़ता। बच्चे ने ऊपर पेशाब कर दी, पर बच्चे पर अनुराग होने से उस दुःख की पर्वाह नहीं हुई। ज्ञानी या योगी में यह राग-भाव विकसित होकर विश्व-प्रेम का रूप धारण कर लेता है इसलिये भी उसे वेदना नहीं होती।

५—समभाव से सुख दुःख को नाटक समझ लिया जाता है। ज्ञानी की दृष्टि वर्तमान काल से हटकर महाकाल पर चली जाती है इसलिये उस की सहनशीलता असीम हो जाती है।

इन पांच कारणों में से ज्ञानी में पिछले तीन कारणों का विकसित रूप देखा जाता है। वह सत्यभक्त विश्व-प्रेमी और अवस्था-समभावी होते हैं इसलिये बाहरी सुख दुःख की वह पर्वाह नहीं करता, या साधारण लोगों से कम पर्वाह करता है। आनंद का स्रोत उस के भीतर से आता है उसी परमानन्द से वह इतना सन्तुष्ट रहता है कि बाहर के सुख दुःख उसे क्षुब्ध नहीं कर पाते, वह बाहरी सुख दुःख को एक खेल समझता है, इसीलिये वह इनकी पर्वाह नहीं करता।

सुख दुःख का मन के साथ सब से ज्यादः ताल्लुक है। मन

अगर तैयार न हो तो बाहर का दुःख उस पर असर नहीं डाल सकता। इसीलिये तो कहा है—

दुःख और सुख मन की माया।
मन ने ही संसार बसाया।
मन को जीता दुनिया जीती, हुआ दुखोदधि पार।
नहीं है दूर मोक्ष का द्वार॥

योगी इसी मोक्ष-सुख के कारण काम सुख की—परनिमित्तिक सुख की—पर्वाह नहीं करता। काम-सुख की कमी को मोक्ष-सुख पूरा कर देता है।

२२ आँसू

प्रश्न—जिसकी आँखों में निरन्तर आँसू रहते हैं, वह-पुण्यात्मा है कि पापात्मा ?

रोने से दिल का मैल दूर होता है तो लोग रोने वाले को बुरा क्यों समझते हैं ?

उत्तर—दुनिया का दुःख देख कर जिसकी आँखों में आँसू रहते हैं—वह पुण्यात्मा है। जो दूसरों को धोखा देने के लिये अपनी जिम्मेदारी से बचने के लिये, अपना अपराध छिपाने के लिये आँसू दिखाता है—वह पापी है। जो पीडित होकर आँसू बहाता है—वह पीड़ा के रूप के अनुसार निर्बल कहा जा सकता है, पर पापी या पुण्यात्मा नहीं।

जो रोना पुण्यरूप है वह न तो बुरा है, न लोग उसे बुरा समझते हैं। बुरा उसे समझते हैं जो छल आदि का या निर्बलता का परिणाम है। साधारणतः रोने से अधीरता या बालपन का परिचय

मिलता है, जितनी अधीरता या बालपन जिस अवस्था के अनुरूप रहता है उसे उतना रोना क्षम्य समझा जाता है, अधिक हो तो निंदनीय।

रोना कभी कभी जरूरी मालूम होने पर भी लोग रोने को ठीक नहीं समझते इसका कारण यह है कि रोने वाला अपनी वेदना का बोझ दूसरों पर डालता है, साधारणतः लोग ऐसा बोझ उठाना पसन्द नहीं करते।

हाँ! जहाँ रोने से आत्मीयता प्रगट होती हो सहानुभूति प्रगट होती हो कर्त्तव्य की प्रेरणा मिलती हो वहाँ रोना बोझ नहीं मालूम होता। बल्कि एक तरह से सुन्दर मालूम होता है। इसी लिये करुणरस सर्व श्रेष्ठ रस है। उससे सहानुभूति मिलती है, सान्त्वना मिलती है विश्वप्रेम उमड़ता है।

२२ जनसंख्या का सवाल

प्रश्न– क्या यह ठीक नहीं कि शान्ति से रहने के लिये जनसंख्या घटाई जाय या नहीं बढ़ने दी जाय।

उत्तर– अभी ऐसी परिस्थिति नहीं आने पाई है कि वर्तमान जनसंख्या की गुजर न हो सके। यदि पूंजीवाद और साम्राज्यवाद न रहे, लोग अपनी राष्ट्रीयता का दुरभिमान भूलकर अमेरिका आफ्रिका और आस्ट्रेलिया के खाली स्थानों में बसने लगें तो अभी काफी समय तक जनसंख्या का सवाल हमारे सामने विकट रूप धारण करके न आयगा।

आजकल जो जनसंख्या के कारण अशान्ति कही जाती है उस का कारण यह है कि एक जाति (देश) के आदमी संसार में

अपना प्रभुत्व चाहते हैं, वे दूसरों को चूसकर अपना निर्वाह करना चाहते हैं, फल यह होता है कि इससे भयंकर युद्ध होते हैं और करोड़ों आदमियों को मारकर बड़े जंगली तरीके से जनसंख्या का सवाल हल होता है। यह इस बात की निशानी है कि मनुष्य अभी पूरा जानवर है।

जिस दिन मनुष्य सच्चा मनुष्य बन जायगा उस दिन जन-संख्या की समस्या इस तरह हल न की जायगी किन्तु मनुष्यमात्र में समभाव रखकर अधिक से अधिक मनुष्यों के निर्वाह का विचार किया जायगा। और जनसंख्या को सीमित रखने के लिये सन्तति-नियमन के तरीके काम में लाये जायेंगे।

जब तक मनुष्य में जातीय कट्टरता है तब तक यह अशान्ति है और तब तक सन्तति-नियमन का प्रयोग भी कठिन है, क्योंकि जातीय कट्टरता के कारण कोई भी जाति अपनी संख्या कम नहीं करना चाहती। देश वंश आदि का जातिसमभाव फैल जाने पर अशान्ति भी घटेगी और उसे हटाने के लिये जितने सन्तति-नियमन की जरूरत होगी उतना सन्तति-नियमन भी हो जायगा।

२४ अमानवा पृथ्वी

प्रश्न– क्या ऐसा भी कभी समय था जब मनुष्याकार जन्तु का निर्माण ही न हुआ हो।

उत्तर– इस विश्व में असंख्य सूर्य हैं जो दूर होने के कारण तारों के रूप में हमें दिखाई देते हैं, उन सब सूर्यों के अपने अपने जगत् हैं जिन में अनेक ग्रह उपग्रह भरे पड़े हैं। उन सब में मनुष्याकार या मनुष्य के समान प्राणी कहीं न कहीं तो होते ही

रहते हैं इसलिये यह तो कहा जा सकता है कि इस विश्व में मनुष्य सरीखे प्राणी कहीं न कहीं तो सदा से रहते हैं पर अपनी दृष्टि से पूछा जाय तो अवश्य ही एक दिन यह पृथ्वी अमानवा-मनुष्य-शून्य थी। वह सूर्य से टूटा हुआ एक आग का गोला था धीरे-धीरे ठंडा हुआ। फिर छोटे छोटे जीव पैदा हुए उनका विकास होते होते मनुष्य बना। और अन्त में फिर यही पृथ्वी अमानवा या प्राणिशून्य हो जायगी। अथवा खुद भी किसी ग्रह या सूर्य में मिल जायगी। इस प्रकार प्रलय और निर्माण सदा चलता रहेगा।

२५-धर्म और दर्शन

प्रश्न–दर्शन-शास्त्र को धर्म-शास्त्र से अलग करने से कैसे काम चलेगा? अगर नीति और सदाचार के नियमों को ही धर्म-शास्त्र मानकर चला जाय, तो भी उनके लिये किसी न किसी निश्चित और अविवादास्पद दार्शनिक भावनाओं का आधार आवश्यक है, इसके अतिरिक्त नीति और सदाचार के नियम केवल स्वार्थसाधक ही रह जायँगे।

उत्तर–दर्शन और धर्म दोनों के विषय ही जुदे जुदे हैं। धर्म-शास्त्र बतलाता है कि हम अपनी मनोवृत्तियाँ और आचार व्यवहार कैसा बनायें कि जगत में सुख अधिक और दुःख कम हो। जब कि दर्शन-शास्त्र विश्व-रचना की समस्याएँ हल करने की कोशिश करता है। जगत कैसे बना, इसका कर्ता कोई है कि नहीं, जगत के मूल में एक तत्त्व है कि अनेक, हैं तो कितने हैं, उनका परस्पर सम्बन्ध और गुण धर्म क्या है? परमाणु क्या है उनके मिलने या बिछुड़ने के नियम क्या हैं? सूर्य चन्द्र प्रकाश अँधेरा आदि क्या हैं? चैतन्य क्या है? आत्मा कोई तत्त्व है या तत्त्वों का मिश्रण

इत्यादि दर्शन-शास्त्र के विषय हैं । इससे यह तो स्पष्ट है कि दोनों शास्त्र जुदे जुदे हैं ।

फिर भी अधिकांश धर्मों में धर्म-शास्त्र का मुख्याधार, कोई खास दर्शन मान लिया गया है । इसमें सन्देह नहीं कि दर्शन को आधार बना लेने से धर्म में एक तरह की दृढ़ता आता है । दुराचारी विश्वासघाती कृतघ्न आदि को सुखी या पीड़क रूप में देखकर और सदाचारी परोपकारी आदि को दुःखी पीड़ित वंचित देखकर भी मनुष्य नीति और सदाचार में जो थोड़ी बहुत श्रद्धा सुरक्षित रख पाता है उसका एक बड़ा आधार ईश्वर परलोक आदि की मान्यता है ।

इस प्रकार दर्शन-शास्त्र का धर्म में काफी उपयोग होने पर भी दर्शन को धर्म का आधार बना देने से नुकसान भी काफी है । मुख्य मुख्य ये हैं—

१—प्रायः सभी धर्म निर्विरोध हैं, उन में परस्पर भिन्नता होनेपर भी देशकाल की अपेक्षा विचार करने से उनमें समन्वय सरलता से हो जाता है जब कि दर्शन में ऐसा बहुत मुश्किल से होता है । कहीं हिंसा भी कर्तव्य है कहीं अहिंसा भी, इस प्रकार हिंसा अहिंसा का समन्वय हो सकता है, पर यह दुनिया ईश्वर की बनाई हुई है या प्राकृतिक, इनका समन्वय नहीं होने पाता । इस प्रकार ये दर्शन धर्मों में झगड़े को पैदा करने बढ़ाने और टिकाने के कारण हो जाते हैं ।

२—धर्म श्रद्धाप्रधान है, दर्शन बुद्धिप्रधान । पर दर्शन को धर्म का अंग बना देने से दर्शन भी श्रद्धा-प्रधान हो जाता है,

इससे मनुष्य का बौद्धिक विकास रुक जाता है। भारतवर्ष इस जमाने में वैज्ञानिक क्षेत्र में जो पिछड़ गया उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि दर्शन धर्म का अंग बन गया था। ईसाई धर्म ने भी इसी कारण लम्बे युग तक वैज्ञानिक प्रगति में बाधा पहुँचाई। (विज्ञान दर्शनशास्त्र का आधुनिक रूप है)।

३—पुराने विज्ञान—दर्शन—से असन्तुष्ट होकर जब मनुष्य ने नये विज्ञान की सृष्टि की तब उसे पुराने विज्ञान को छोड़ देना पड़ा पर चूंकि वह धर्म का अंग था इसलिये धर्म भी छूटा, इस प्रकार उसमें एक तरह की नास्तिकता आगई। वैज्ञानिकता और आस्तिकता के समन्वय का मार्ग बड़ा कठिन होगया। मानव जीवन पर इसका भयंकर दुष्परिणाम हुआ है।

४—दर्शन बुद्धि-प्रधान होने से मनुष्य की बुद्धि उस बारे में काफी तर्क-वितर्क करती है और सन्देह और विरोध पैदा होने लगते हैं। चूंकि दर्शन के आधार पर धर्म खड़ा होता है इसलिये दर्शन पर अविश्वास धर्म पर अविश्वास बन जाता है, भौतिक बातों के पीछे आध्यात्मिक पतन होने लगता है।

इस प्रकार दर्शन को धर्म का अंग बनाने से जितना लाभ हुआ उससे अधिक नुकसान हुआ। इसीलिये मैंने धर्म और दर्शन को अलग अलग करने की कोशिश की। फिर भी मैं दर्शन का बहिष्कार नहीं करता। मैं पहिले तो यह चाहता हूं कि कोई धर्म किसी खास दर्शन से न बँधे। एक धर्म को माननेवाला व्यक्ति अनेक दर्शनों में से कोई भी दर्शन चुनले तो इससे बड़े धर्म-भाइ

या धर्म-विरोधी न माना जाय। ऐसी अवस्था में मनुष्य स्वतन्त्रता से विचार भी कर सकेगा और धर्म का आधार कोई दर्शन भी रख सकेगा।

फिर भी यह लँगड़े का सहारा है। लकड़ी छूटने पर वह चलने में अशक्त हो जायगा, इसलिये मैं मनुष्य को इससे भी ऊँची अवस्था में देखना चाहता हूँ। जिस अवस्था में मनुष्य को नीति और सदाचार में मिठास मालूम होने लगे, नीति और सदाचार के अवलम्बन के लिये उसे कल्पना जगत में न दौड़ना पड़े, और कल्पना टूटने पर वह नीति और सदाचार के बारे में श्रद्धाहीन न हो जाय। इसके लिये ऊँचे दर्जे की आध्यात्मिक भूमिका, सुसंस्कार, सत्संग आदि चाहिये। कठिन होने पर भी इस बारे में आदर्श और अनपाय स्थिति यही है।

हाँ! इस बारे में भी अविवादास्पद भावनाओं के आधार की आवश्यकता तो है, पर वे भावनाएँ विश्वप्रेम स्व-पर-हित अद्वैत की धार्मिक भावनाएँ होना चाहिये; स्वर्ग नरक ईश्वर आदि की दार्शनिक भावनाएँ नहीं।

यों तो मैंने दार्शनिक मान्यताओं के धार्मिक पहलुओं का विश्लेषण भी किया है। जगत का विधाता ईश्वर है या कर्म, इस परस्पर विरोधी दार्शनिक विचारधारा में भी धार्मिक दृष्टि से एक अविरोध है। ईश्वरवादियों की दृष्टि में पुण्य-पाप का फलदाता ईश्वर है, अगर आज पुण्य-पाप का फल नहीं मिला तो मरने पर ईश्वर जरूर देगा, और कर्मवादियों की दृष्टि में भी फलदाता कर्म है जो अभी नहीं तो परलोक में फल देगा। दार्शनिक दृष्टि से दोनों

विरोधी सिद्धान्त हैं पर धार्मिक दृष्टि से दोनों एक ही बात बतलाते हैं कि सदाचार का फल अवश्य मिलेगा, इसलिये इन पर अविश्वास न करना चाहिये।

दर्शनों की धर्माधारता का जो मैंने यह विरोध किया है वह इसीलिये कि जो लोग दर्शन को आधार बनाये बिना धार्मिकता को अच्छी तरह टिका नहीं सकते—वे विरोधी दर्शनों में भी एक तरह की धर्माधारता तो देख सकें, जिससे दर्शन के नाम पर धार्मिक झगड़े न हों और न बुद्धि बन्धन में पड़ जाय।

पर जो लोग किसी तरह की दार्शनिक भावना को आधार न बनायेंगे किन्तु विश्वप्रेम आदि की धार्मिक भावना के आधार से ही नीति-सदाचार का पालन करेंगे उनकी धर्माधारता और भी दृढ है; वह सिर्फ इसीलिये स्वार्थ-साधक न कहलायगी कि उसे दार्शनिक आधार नहीं मिला है। बात यह है कि स्वार्थ-वासना को सीमित करने के लिये और उदारता बढ़ाने के लिये ही तो नीति और सदाचार (धर्म) है। व्यक्तिगत स्वार्थ को स्वार्थ कहते हैं और समष्टिगत स्वार्थ को परमार्थ कहते हैं, इसलिये ऐसे स्वार्थ से घबराने की जरूरत नहीं है, जो परमार्थ कहा जा सकता है जो सब धर्मों का ध्येय है और जिसे पाने के लिये दार्शनिक आधार की आवश्यकता कही जाती है।

यह बात अन्त में फिर कह दी जाती है कि दर्शन को धर्म से अलग करने का मतलब दर्शन का जीवन से बहिष्कार नहीं है, न दर्शन और धर्म का परस्पर असहयोग है, किन्तु दोनों स्वतन्त्रता से विकास कर सकें एक दूसरे के बाधक न बनें,

यही कहना है। धर्म में इतिहास भूगोल गणित आदि विविध विषयों का उपयोग होता है—हो सकता है, फिर भी धर्मशास्त्र से ये शास्त्र भिन्न हैं उसी तरह दर्शन भी रहे। और स्वतन्त्र रहकर ही वह धर्म के या जीवन के काम में आवें।

२६ मनुष्य की श्रेष्ठता

प्रश्न–मनुष्य सब से उत्तम प्राणी क्यों है ? जब कि आज वह दुनिया के लिये अभिशाप बना हुआ है।

उत्तर–यद्यपि मनुष्य की करतूतें पशुओं से भी भयकर होती हैं और मनुष्य अपने विकास को देखते हुए पशुओं से भी अधिक पापी और मूर्ख सिद्ध होता है फिर भी वह सब प्राणियों से श्रेष्ठ तो है ही। न केवल ज्ञान शक्ति और कला में किन्तु सयम में भी। पशुओं में साधारणत मनुष्य की अपेक्षा जो कम असयम दिखाई देता है उसका कारण पशु की सयम वृत्ति नहीं है किन्तु अशक्ति और अज्ञान है। इसी अशक्ति और अज्ञान के कारण पशु मनुष्य के बराबर क्रूर नहीं बन सकता और न मनुष्य के बराबर दुनिया पर कहर बरसा सकता है, पर साथ ही साथ दुनिया के उद्धार के लिये मनुष्य के बराबर त्याग भी नहीं कर सकता। पशु में ईसा और सुकरात पैदा नहीं हो सकते।

यद्यपि मनुष्य को अपने कर्तव्य का भान कराने के लिये काव्यमयी भाषा में मनुष्य को लज्जित करने के उद्देश से पशु के संयम का या असंयम की अल्पता का गीत गा दिया जाता है; फिर भी वह पशुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ ही रहता है। उसे लज्जित

करने के लिये पशु का उदाहरण देने में भी मनुष्य की श्रेष्ठता छिपी हुई रहती ही है।

यद्यपि आज मनुष्य में संयम की काफी कमी है और उसके बौद्धिक विकास को देखते हुए इतनी अधिक कमी है कि उसके आविष्कार वैभव शक्ति कला आदि उसे पच नहीं पाये हैं; फिर भी पशु की अपेक्षा उस में संयम काफी अधिक है।

फिर भी आज मनुष्य के लिये यह लज्जा की बात है कि उसकी करतूतें दुनिया के लिये खुद मनुष्य के लिये भी—इतनी भयंकर बन गई हैं कि विद्वान मनुष्यों को पशु के आगे मनुष्य की श्रेष्ठता में सन्देह पैदा होने लगा है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपने बौद्धिक विकास वैभव और शक्ति की विशालता के अनुकूल संयम और न्याय की भी वृद्धि करे तभी उसकी श्रेष्ठता निर्विवाद रह सकती है।

२७—चींटी और मनुष्य

प्रश्न—सुनते हैं चींटियों में भी सुन्दर समाज व्यवस्था है फिर मनुष्य जाति की सुबुद्धि का गान करने का क्या अर्थ है?

उत्तर—मनुष्य के आगे चींटियों का जैसा कलेवर है उसे देखते हुए उनकी समाज व्यवस्था वास्तव में आश्चर्यजनक और प्रशंसनीय है। एक तोता जब मनुष्य के समान टूटीफूटी भाषा में दस पांच वाक्य बोल लेता है तब भी उसे देखकर खुद मनुष्यों को आश्चर्य होता है यद्यपि आश्चर्य करनेवाले मनुष्यों को तोते की अपेक्षा कई गुणें वाक्य बोलने का ज्ञान है। चींटियों की मक्खियों की यह प्रशंसा इसी तरह सापेक्ष है। इसका यह मतलब नहीं है

कि वे मनुष्य से बाजी मार ले गई हैं ।

हां ! इससे मनुष्य को इस बात की शिक्षा अवश्य लेना चाहिये कि अपनी स्वाभाविक महत्ता को देखते हुए उसे अभी अधिक विकास करने की जरूरत है, खास कर व्यवस्था न्याय सहयोग आदि के बारे में ।

२८–नीति का आधार

प्रश्न– क्या आप समझते हैं कि लोक-व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिये सदाचारी बनकर नैतिक नियमों के पालन करने का उपदेश देना ही पर्याप्त होगा ? क्या विविध योगों द्वारा सर्वव्यापक अव्यक्त तत्व की खोज करके उसपर श्रद्धा रक्खे बिना सदाचार का उपदेश स्थिर रह सकता है ? स्पष्ट बात यह है कि जब तक लोगों को परमात्मा पर पूरा पूरा विश्वास नहीं होता तब तक वे सदाचार की मनमानी व्याख्या करके अपने लिये उपयोगी सिद्धान्त को नीति समझ लेते हैं और अनुपयोगी को अनीनि । जब तक उनके सामने कोई विश्व-व्यापी परम तत्व की पहचान नहीं है तब तक वे अज्ञानियो की आखो मे धूल झोंककर पाप परायण बने ही रहेंगे । कौन किसके लिये बलिदान करेगा ? वे तो अपने लिये सबका दान लेंगे । सब वस्तुओं को वे अपने लिये समझेंगे । वे तो किसी के लिये नहीं होंगे । मतलब यह है कि अपने पर एक नियन्त्रण करने-वाली एक सर्वैश्वर्य-संपन्न शक्ति नहीं मानी जायगी, तब तक नैतिक नियमों का आधार कच्चा ही रहेगा । और जब तक वह आधार कच्चा ही रहेगा तब तक विश्व में अव्यवस्था बनी रहेगी ।

उत्तर– सदाचार की दृढ़ता और व्यापकता के लिये एक ईश्वर की परम आवश्यकता है। जो लोग ईश्वर पर दृढ़ विश्वास रखकर सदाचार का पाठ पढ़ सके हैं, याद रख सके हैं, वे धन्य हैं। फिर भी परमात्मा अभी तक अगम अगोचर ही बना हुआ है इसलिये उसे नीति का आधार मानकर चलना कठिन है। निरीश्वरवादियों की तरह ईश्वरवादी भी अज्ञानियों की आँखों में धूल झोंकनेवाले, पापपरायण और स्वार्थी देखे जाते हैं और ईश्वरवादियों की तरह निरीश्वरवादी भी परम संयमी देखे जाते हैं। ईश्वरवादी इंग्लैंड फ्रांस अमेरिका बेल्जियम आदि घोर साम्राज्यवादी हैं और निरीश्वरवादी रूस साम्राज्यवाद का विरोधी है। अनेक ब्राह्मण और राजा महाराजा ईश्वरवादी होनेपर भी वंचक प्रजा-पीड़क रहे हैं और निरीश्वरवादी बुद्ध और उनके भिक्षु परम संयमी रहे हैं, इसलिये यह समझना ठीक नहीं कि ईश्वर के माने बिना मनुष्य न्यायी और संयमी नहीं हो सकता।

जिन लोगों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक या तार्किक हो गया है जो बुद्धि से परीक्षा किये बिना ईश्वर को नहीं मान पाते हैं केवल भावुकता से जो किसी बात का निर्णय नहीं करते हैं, उनको भी समाज में रहना है और उनकी तार्किकता को अपराध भी नहीं मानना है फिर भी उन्हें संयमी बनाना है, इसलिये उनके लिये नीति का आधार लोकहित ही बनाना होगा। उस आधार को चाहे कोई ईश्वर की श्रद्धा द्वारा पाये चाहे सदसद्विवेक द्वारा। इसलिये उचित तो यह है कि मनुष्य पर सदाचार के संस्कार डाले जायँ और विश्वहित में व्यक्तिहित है–यह तत्त्वज्ञान उसके गले उतारा जाय।

बस, इसी आधार से वे सदाचारी बनाये जायँ। हाँ! स्वार्थी लोग इसका दुरुपयोग करेंगे पर वे लोग तो ईश्वर का भी दुरुपयोग करते हैं। रूस के जार ईश्वर के नाम पर ही अपने को छोटे पिता (बड़े पिता 'ईश्वर' के छोटे भाई) कहलवाकर रूस की जनता का निर्दयता से शोषण करते थे, इस दुरुपयोग को कोई 'वाद' निर्मूल नहीं कर सकता।

मानव-समाज का यह दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि नैतिक नियमों का आधार हर हालत में कच्चा ही है। ईश्वर अवश्य ही एक पक्का आधार बन सकता है पर एक बुद्धिवादी को उसका विश्वास दुर्लभ है। इस बुद्धिवाद पर एक तो रोक लगाई नहीं जा सकती अगर लगाई जाय तो मनुष्यता का नाश हो जायगा और कहीं कहीं भयंकर शैतानियत आ जायगी। ईसाई धर्म का इतिहास श्रद्धा के नाम पर ऐसे भयंकर अत्याचारों से भरा हुआ है कि आज भी उनकी याद आते ही रूह कांपने लगती है। इसलिये मनुष्य की विचारशक्ति पर तो किसी भी तरह का अंकुश न पड़ना चाहिये। विचारकता की पूर्ण जागृति के साथ अगर कोई ईश्वर पर विश्वास कर सके तो बहुत अच्छा, नहीं तो विश्वहितैषिता में ही सच्चा आनन्द है—इस प्रकार के संस्कार और तत्त्वज्ञान ही नैतिक नियमों का आधार काफी है। इन पर सभी के लिये जोर देना चाहिये।

इस आधार को हम सत्येश्वर का आधार कह सकते हैं। और सत्येश्वर को अपनी भावना से व्यक्तित्व देकर ईश्वर सम्बन्धी प्यास भी बुझा सकते हैं। पर व्यापकता की दृष्टि से सत्येश्वर के

बौद्धिक रूप को ही अन्तिम आधार बनाना चाहिये जिसमें ईश्वरवादी और निरीश्वरवादी दोनों ही समा जायँ।

२९–मानव शिशु का विकास

प्रश्न–पशुओं के बच्चे जल्दी बड़े होकर अपने पैरोंपर खड़े हो जाते हैं। आदमी का बच्चा उतनी देर से आत्मनिर्भर क्यों बनता है?

उत्तर–भिंडी का झाड़ पैदा होकर जवान होकर फल देकर और बूढ़ा होकर मर जाता है और इन सब कामों में उसे छः महीना से अधिक समय नहीं लगता जब कि इतने समय में आम के झाड़ की शैशव अवस्था भी पूरी नहीं होती। जिसका जीवन लम्बा है और जिसे अधिक विकास करना है उसे अधिक समय लगता ही है। पशु के शैशव और जवानी में बौद्धिक और शारीरिक दृष्टि से जितना अन्तर है मनुष्य में उससे कई गुणा है। पशु जन्म के समय चार पैर से चलता है और एक ही आवाज में बोलता है और जवानी में भी वही करता है अन्तर इतना ही कि बोझ ढोने की ताकत बढ़ जाती है, पर मनुष्य जन्म के समय एक इंच भी नहीं चल सकता औंधा सीधा भी नहीं हो सकता भाषा और बुद्धि में पशु के बच्चे से भी पीछे होता है पर जवानी में भाषा बुद्धि और शारीरिक शक्ति की दृष्टि से हजारों लाखों गुणा बढ़ा चढ़ा होता है। इस प्रकार मनुष्यके सामने और सब प्राणियों की अपेक्षा विकास कार्य बहुत ज्यादः रहता है इसलिये उसे अपने पैरोंपर खड़े होने में देर लगे तो कोई आश्चर्य नहीं।

३०-मृत्युतिथि

प्रश्न—पूर्वजों की मृत्युतिथि पर दान पुण्य या भोजन कराने से उनकी आत्मा को शान्ति मिलती है या नहीं ?

उत्तर—नहीं। हम भी जहां से मरकर यहां पैदा हुए हैं वहां वालों के पूर्वज ही हैं पर पूर्व जन्म के सम्बन्धियों ने दान दिया हो और उससे हमें शान्ति मिली हो ऐसा अनुभव नहीं होता। बात यह है कि यह सब एक जमाने की आर्थिक व्यवस्था के अनुसार है। अवैतनिक समाज सेवकों को समय समय आर्थिक सहायता देने के लिये ये सब रिवाज बनाये गये थे। और ये रिवाज टूट न जायें और लोग जनसेवकों का ऋण चुकाने में आनाकानी न करने लगें इसलिये पूर्वजों को शान्ति आदि की बातें कहकर उन पर मनोवैज्ञानिक ढंग से असर डाला गया था। एक तरह से उस जमाने के अनुसार यह ठीक था। पर आज वह मुर्दा रिवाज है। क्योंकि जिन्हें भोजनादि कराया जाता है उनसे ऐसी कोई सेवा समाज को नहीं मिलती। विनिमय के तरीके भी अब बदल गये हैं।

हां! कोई व्यक्ति पूर्वजों के नाम पर कृतज्ञता प्रगट करने के लिये समाजहित की दृष्टि से दानादि करे तो यह कार्य अच्छा होगा। दिवंगत आत्मा की शान्ति की दृष्टि से नहीं, लेकिन जीवन का स्वरूप समझकर कुछ समाज सेवा कर जाने की दृष्टि से। मृत्युतिथि पर जीवन मरण के रहस्य की तरफ ध्यान जाना और ऐसे अवसर पर कुछ समाज सेवा कर जाना मनुष्यता का चिन्ह है। पर समाज-सेवा मनुष्यता का चिन्ह है रूढ़ि-सेवा नहीं।

२१ पाप क्यों ?

प्रश्न–क्रोध करना किसी को प्रिय नहीं है फिर क्यों करते हैं ? हम चाहते नहीं कि पाप हो फिर भी जबर्दस्ती पाप में कौन लगाता है ?

उत्तर–अज्ञान असंयम और कुसंस्कार सब पापों की जड़ हैं। पहिले तो मनुष्य क्रोध की बुराई नहीं समझता, कभी कभी लोकलाज के कारण क्रोध की बुराई को शब्दों में स्वीकार कर लेता है फिर भी उस पर विश्वास नहीं करता या यह सोच लेता है कि क्रोध भले ही बुरा हो पर इस मौके पर जरूरी है या बुरा नहीं है इसलिये क्रोध कर जाता है। कभी स्वार्थ वासना इतनी तीव्र होती है कि उसके आगे जानकारी कुछ समय के लिये दब जाती है। और कभी कभी कुसंस्कारों के कारण–जन्म से पड़ी हुई आदत के कारण मनुष्य क्रोध कर जाता है। आदत को तो धीरे धीरे बदल सकते हैं बार बार आलोचना करना इसके लिये उपयोगी है। जब कभी क्रोध आया या गाली निकली कि तुरन्त नशा उतरते ही आलोचना या पश्चात्ताप करना चाहिये। इस प्रकार धीरे धीरे संस्कार बदल जायँगे। स्वाध्याय मनन चिन्तन सत्संग आदि से अज्ञान और असंयम दूर हो सकते हैं। इन से मनुष्य समझ सकता है कि पाप उसी समय ही सुन्दर मालूम होता है पर उसका दुष्परिणाम अन्त में उस के लिये और जगत् के लिये बड़ा भयंकर होता है। इस प्रकार विवेक जगाना और सुसंस्कार डालना ही क्रोध या पाप को रोकने का उपाय है।

३२ मन को वश में रखना

प्रश्न–मन को वश में रखने का सीधा उपाय क्या है ।

उत्तर–मन पर बुद्धि का या सदसद्विवेक बुद्धि का अंकुश लगाते रहना चाहिये । इसके लिये दो काम करना चाहिये मन जिन विषयों में आसक्त है उसकी निःसारता विवेक बुद्धि के द्वारा बताना चाहिये । पर जब इससे काम न चले तब उसे उसके विषय से मिलते जुलते किसी पुण्यकार्य में या कम पाप के कार्य में लगाना चाहिये । जैसे किसी आदमी को शिकार का व्यसन है तो पहिले उसे उस व्यसन को बुराई समझाना चाहिये फिर इसके बाद निशानबाजी के कोई खेल खेलने का मौका उसे देना चाहिये । या किसी अन्य विषय में भी उसे लगाया जा सकता है । सत्यशिव तो है ही, पर सुन्दर भी है इस द्वार से मन को सत्य की सेवा में लगाया जा सकता है । और धीरे धीरे अभ्यास करते रहने से मन वश में हो जाता है ।

३३ जपयज्ञ

प्रश्न–'भगवान के नाम का जप करने से पाप दूर होता है' इस बात में आपको कहां तक विश्वास है ? बड़े बड़े सन्तों ने हमेशा इसी बात पर क्यों जोर दिया है ? 'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि' कहकर गीता सरीखे विश्व विश्रुत ग्रंथ में भी जप करने को मुख्य बतलाया गया है ।

उत्तर–केवल नाम जपने से मनुष्य को कोई लाभ नहीं होता । हां ! नाम जपने से जिनके हृदय में प्रबल भक्ति पैदा हो

जाती है उन्हें अपनी असहायता को भूलने के कारण आश्वासन मिलता है इस प्रकार दिल से अगर नामस्मरण किया जाय तो मनुष्य को थोड़े बहुत अंश में मोक्ष का स्वाद मिल जाता है। पर यह लाभ गिनगिनकर हजारों लाखों बार नाम लेने से और ढ लेकर नामों की गिनती पूरी कराने से नहीं होता। नाम में दिल को पूरी तरह भिगाने से होता है। इसी लाभ के कारण संतों ने जप-यज्ञ को महत्त्व दिया है।

पर यह राजमार्ग नहीं है राजमार्ग तो कर्मयोग। जप अगर किसी अंश में कर्मयोग में सहायक बने तो उतने अंश में उसे अपनाना चाहिये। पर जप अधिकतर स्वपर वचना रूप बना हुआ है, कर्मयोग का विरोधी बन गया है इसलिये मैं इसे महत्त्व नहीं देता।

एक बात और है—इन जपों ने अन्धश्रद्धा और वृथासन्तोष का भाव भी पैदा कर दिया है इसलिये भी ये उपेक्षणीय हैं। जप-से संकट सहने की वृत्ति पैदा हो सकती है पर उससे काम प्राप्ति की आशा करना अन्धश्रद्धा और वृथा सन्तोष है। जप करने से पानी बरसेगा और जप करने से लड़ाई शान्त होगी हवा में शान्ति की तरंगें पैदा होंगी वगैरह ऊटपटांग विज्ञान की दुहाई से मानव का अहित ही होता है। जप को मोक्षांग मानकर ही अपनाना चाहिये और वह भी उस समय जब हमारी विचारकता सो रही हो। फिर भी वह विचारकता इतनी न सोना चाहिये कि शब्द से अर्थ का भी ध्यान न होने दे।

३४—विचार भिन्नता

प्रश्न—वातावरण एक सरीखा होनेपर भी विचारों की परम्परा भिन्न क्या होती है ?

उत्तर—खेत की मिट्टी और वर्षा का परिमाण एकसा होनेपर भी जैसे हर जाति के झाड़ उसका उपयोग अपनी अपनी प्रकृति और शक्ति के अनुसार करते हैं उसी प्रकार वातावरण का प्रभाव भी मनुष्य पर अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार पड़ता है। मनुष्य की प्रकृति के निर्माण में माता-पिता का आनुवंशिक प्रभाव, कौटुम्बिक वातावरण, खानपान, संगति, तथा हजारों तरह के विविध दृश्यों का असर सहायक होता है।

स्थूल दृष्टि से हमें ऐसा मालूम होता है कि वातावरण एकसा है पर छोटी छोटी बातों के प्रभाव में इतना अन्तर होता है जो कल्पनातीत कहा जा सकता है। कब कौन-सी पुचकार बच्चे को उद्दंड बना देगी कब कौनसी फटकार डरपोक बना देगी, कब कौनसी उपेक्षा उसे कुराह में बढ़ा ले जायगी, कब कौनसी घटना उसके चित्त पर क्या प्रभाव डालेगी आदि बातों का निर्णय कठिन है। इससे सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि स्थूल रूप में वातावरण एकसा होनेपर भी सूक्ष्म रूप में वातावरण में बड़ी विविधता रहती है और उसका जीवन पर काफी प्रभाव पड़ता है इसलिये विचारों में भिन्नता हो जाती है।

३५-दर्शन और वर्तन

प्रश्न—समदर्शन ही किया जा सकता है सर्वत्र समवर्तन असंभव है। समवर्तन पर जोर न देकर समदर्शन पर ही जोर

देना आवश्यक है। समवर्तन तो यथानुकूल ही हो सकता है।

उत्तर—समवर्तन हो कितना भी, किन्तु समदर्शन के मूल्य की कसौटी वही है। समवर्तन के लिये ही समदर्शन है। समदर्शन पर ही जोर दिया जाय तो लोग समवर्तन पर—आचरण पर—उपेक्षा करने लग जायँगे। और उनमें एक तरह की स्वपर वञ्चना पैदा होगी। सच्चा समदर्शन और बातूनी समदर्शन का भेद अज्ञेय हो जायगा। इस तरह समवर्तन पर उपेक्षा करने से वास्तविक समदर्शन भी न आने पायगा। इसलिये समदर्शन को साधन और समवर्तन को साध्य मानकर समवर्तन पर अधिक से अधिक जोर देना चाहिये। जितना समवर्तन प्राप्त हो जायगा उससे आगे बढने की कोशिश की जायगी। समदर्शन पर जोर देने से समवर्तन की कोशिश बन्द हो जायगी और बातूनी समदर्शन में ही वृथा सन्तोष होकर रह जायगा।

३६ जातिभेद (१)

प्रश्न—हृदयों का सम्मेलन ही सच्चा सम्मेलन है हृदयों में अनैक्य रहे तो जातिपाति के ऐक्य का क्या फल होगा? इसलिये जातिपाँति को तोड़ने का प्रयत्न नहीं करके हृदय के रागद्वेषात्मक विचारों को नष्ट करने का ही प्रयत्न क्यों न हो?

उत्तर—यह कहा जा सकता है कि 'पति-पत्नी का अगर दिल न मिले तो विवाह का क्या उपयोग है और अगर दिल मिल जाय तो विवाह की क्या जरूरत है?' पर क्या इसी बात से विवाह के लिये प्रयत्न न करके हृदय के रागद्वेषात्मक विकारों को नष्ट करने का ही प्रयत्न करना चाहिये। बात यह है कि विवाह

की भी आवश्यकता है और हृदयों के सम्मेलन की भी। विवाह, दाम्पत्य रूपी मनुष्य का शरीर है और प्रेम आत्मा। आत्मा पर ही जोर देने से और शरीर पर उपेक्षा करने से मनुष्य दिखाई न देगा।

इसी प्रकार जातिपांति तोड़ने के बारे में भी विचार करना चाहिये। जाति सम्मेलन से प्रेम के बढ़ने की ऐसी ही संभावना रहती है जैसे विवाह से दांपत्यप्रेम बढ़ने की। हां! यह हो सकता है कि कभी कहीं जाति सम्मेलन होने पर भी हृदय सम्मेलन न हो जैसे कभी कहीं विवाह होने पर भी हृदय सम्मेलन नहीं होता पर ऐसी बातें तो सभी कारणों के बारे में कही जा सकती हैं। कारण के होनेपर भी कभी कभी कार्य नहीं होता। इसका अर्थ तो यह है कि कारण की कमी को दूर करना चाहिये बाधक को हटाना चाहिये न कि जो कारण मिल चुका है या मिल सकता है उसे हटा देना चाहिये।

हृदय सम्मेलन के लिये जातिपांति सम्मेलन उपयोगी है, फिर भी अगर हृदय सम्मेलन न हो तो उसके लिये और भी कोशिश करना चाहिये। न कि जातिपांति सम्मेलन [illegible]।

हां! एक बात और है जिससे जातिपांति सम्मेलन पर जोर देने की जरूरत होती है। हृदय में दूरवृत्ति न रहनेपर भी किसी कारण एक तरह का भ्रम पैदा हो जाता है जिससे प्रेम होनेपर भी जातीय सहयोग नहीं होने पाता। हम अपने गाय बैल घोड़ों आदि से भी प्रेम करने लगते हैं फिर भी हमारा उनका रोटी बेटी व्यवहार नहीं होता। बहुत से आदमी इसी तरह दूसरे मनुष्य से प्रेम तो करते हैं पर दूसरी जाति का समझकर उससे रोटी बेटी व्यवहार नहीं कर सकते। उससे अगर हृदय सम्मेलन की बात कहो तो ईमानदारी से कहेगा कि मैं उसे हृदय से चाहता हूं पर जब मेरी उसकी जाति ही दूसरी है तब मैं क्या करूं? प्रेम तो मैं पशु से भी कर सकता हूं पर उसे अपनी जाति का तो नहीं मान सकता।

इस प्रकार केवल हृदय सम्मेलन के उपदेश से ऐसे लोगों का भ्रम दूर नहीं हो सकता। उन्हें मनुष्य की एकता, उसके सामाजिक सहयोग के लाभ और असहयोग से होने वाली हानि समझाना जरूरी है। इतना ही नहीं किन्तु जाति पांति के बन्धन तोड़कर उनका पथप्रदर्शन भी जरूरी है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो वंश परम्परा के कुसंस्कारों के कारण जातिपांति तोड़ना पसन्द नहीं करते किन्तु युक्ति शास्त्र से अपने मत का समर्थन कर नहीं सकते इसलिये कह देते हैं कि जातिपांति तोड़ना जरूरी नहीं है हृदय सम्मेलन पर ही ध्यान देना चाहिये। ऐसी बात वे लोग भी कहने लगते हैं जो जाति-पांति तोड़ना उचित तो समझते हैं पर साहस के अभाव से या जातिमोह के कारण इस मार्ग में पैर नहीं बढ़ा सकते। ऐसे लोगों की स्वपर वंचना को दूर करने के लिये भी जातिपांति तोड़ने के कार्यक्रम पर जोर देने की जरूरत है। बल्कि ऐसे लोगों के हृदय सम्मेलन की परीक्षा के लिये कसौटी के रूप में भी जातिपांति के ऐक्य पर जोर देने की जरूरत है।

३७ जातिभेद (२)

प्रश्न–जैसे व्यक्ति भेद नष्ट नहीं किया जा सकता वैसे ही जातिभेद नष्ट नहीं किया जा सकता। असम्भव प्रयत्न करने से क्या हमारी शक्ति बेकार न जायगी?

उत्तर न व्यक्तिभेद को मिटाना असम्भव प्रयत्न है न जाति भेद को मिटाना। व्यक्तिभेद के मिटाने का अर्थ है व्यक्ति के स्वार्थों में संघर्ष के स्थान पर समन्वय पैदा करना। पति पत्नी और सन्तान भिन्न भिन्न व्यक्ति होने पर भी समन्वित होकर एक बन जाते हैं इसी वृत्ति को अधिक से अधिक फैलाना और एक दूसरे पर अन्याय अत्याचार और शोषण न होने देना, अधिक से अधिक

सहयोगी व्यवहार स्थापित करना ही व्यक्ति भेद को नष्ट करना है। यह असम्भव नहीं है। मनुष्य इस क्षेत्र में काफी आगे बढ़ा है और अभी उसे काफी आगे बढ़ना है अगर प्राणिमात्र का एक कुटुम्ब या व्यक्तित्व असम्भव भी हो तो भी उस मार्ग में जितना बढ़ा जाय उतना ही अच्छा है इसलिये इस दिशा में सर्वदा अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिये।

यही बात जातिभेद के बारे में है। जातिभेद का अर्थ है गुणागुण का विचार न करके केवल वंशपरम्परा के भेद के कारण परस्पर रोटी बेटी आदि व्यवहार न करना। यह भ्रम है अहंकार है। इसे दूर करना चाहिये। पूरी तरह दूर न हो तो भी जितने अंश में दूर हो उतने अंश में प्रयत्न करना चाहिये।

माना कि थोड़ा बहुत जातिभेद सब जगह है। फिर भी कहीं बहुत कम और कहीं बहुत ज्यादः है। हिन्दुओं सरीखा जातिभेद कहीं नहीं है। हिन्दुओं सरीखा जातिभेद कहीं नहीं है। हिन्दुओं के जातिभेद और मुसलमानों के जातिभेद में बहुत फर्क है हिंदुस्तान के जातिभेद और चीन के जातिभेद में बहुत फर्क है। साम्यवादी रूस में जातिभेद की वासना तो सब से कम है, जिनके यहां जातिभेद हिन्दुओं सरीखा है वे उसे तोड़ते तोड़ते साम्यवादी रूस सरीखे क्यों न बन जायँ! इसमें असम्भव क्या है? और चीन और रूस से भी आगे बढ़ने की काफी गुंजाइश है जिसके लिये हमें कोशिश करना चाहिये।

कोई भी भलाई दुनिया में इतनी नहीं फैल सकती कि बुराई बिलकुल न रहे। अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, शील, निष्परिग्रहता, कृतज्ञता आदि सभी गुणों का चरम विकास कल्पित ही है पर क्या इसीलिये इन्हें असम्भव कहकर इनके लिये प्रयत्न न किया जायगा। जो भलाई है उसके लिये प्रयत्न होना ही चाहिये भले ही उसमें सौ फीसदी सफलता न मिले। जितने अंश में सफलता मिलेगी उतने ही अंश में मनुष्य का कल्याण होगा।

जातिभेद को नष्ट करना भी एक भलाई है उस में हमें पूर्ण सफलता भले ही न मिले पर अगर किसी देश ने या किसी जनसमूह ने इस ओर में जितनी अधिक सफलता पाई हो उतनी तो हमें भी पाना चाहिये और इस ओर में जितना आगे बढ़ा जा सकता हो उतना तो बढ़ना ही चाहिये। कल्पित परमसीमा को असम्भव समझकर उस मार्ग में हो सकनेवाली प्रगति बंद न कर देना चाहिये।

२८ जातिभेद (३)

प्रश्न—रोटी बेटी व्यवहार को जन्म की जातियों में सीमित रखने से यह लाभ है कि धनवानों और गरीबों का वर्ग नहीं बनता। लड़का नहीं मिलने पर संपन्न सजातीय को गरीब घराने में भी बेटी देना हो पड़ती है। त्याग का अभ्यास होता है।

उत्तर—सौ बुराइयों में एकाध भलाई निकल पड़ती है पर इसीलिये बुराइयों की वकालत नहीं की जाती। घर में आग लग जाय तो बहुत-सा नुकसान होगा घर मालिक शायद रोता फिरेगा

पर यह कहकर उसके आंसू नहीं पोंछे जा सकते कि रोता क्यों है घर जलने से रोटी पकाने के लिये तुझे बहुतसा कोयला मिल गया और बर्तन मलने के लिये राख भी।

जाति बन्धनों से जो अगणित नुकसान होते हैं उनके आगे उपर्युक्त लाभ किसी गिनती में नहीं इन जातिभेदों ने राष्ट्र के टुकड़े टुकड़े कर दिये हैं इससे राष्ट्र की शक्ति संगठित नहीं हो पाती, विवाह का क्षेत्र सीमित होने से विवाह का सम्बन्ध ढूंढ़ने में काफी कठिनाई पैदा होती है बल्कि इसी कारण अनमेल विवाह हो जाते है, पड़ौसी से प्रेम होनेपर भी रोटी बेटी व्यवहार का सहयोग न हो सकने से अनेक कष्ट पढ़ते हैं, सुयोग्य सम्बन्ध भी इसी कारण तोड़ देना पड़ते हैं और कभी कभी इससे बड़ी भयंकर दुर्घटना हो जाती है, वैवाहिक कठिनाइयों के कारण अल्प संख्यक जाति के लोग आजीविका के लिये भी इधर उधर बहुत नहीं फैल सकते, फैलने पर बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, बहुतों को अविवाहित रह जाना पड़ता है, इत्यादि बहुतसी हानियाँ हैं। इन हानियों के आगे—जोकि संख्या में और प्रकार में काफी अधिक है—उपर्युक्त लाभ कुछ मूल्य का नहीं।

यह बात बिलकुल इकतरफी है कि जातिभेद से धनवानों के और गरीबों के वर्ग नहीं बनते। विवाह सम्बन्ध हो जाने पर भी धनिक वर्ग बना ही रहता है हां! इतना अवश्य है कि समधी समधी में जो आदर का भाव होता है वह गरीब समधी होने के कारण नष्ट हो जाता है। इससे अधिकांश स्थानों पर शिष्टता को धक्का लगता है। यों धनिक वर्ग और गरीब वर्ग कोई स्थायी वर्ग

नहीं है। सैकड़ों गरीब अमीर होते रहते हैं और सैकड़ों अमीर गरीब।

अमीर को विवश होकर गरीब को लड़की देना पड़े यह किसी का सौभाग्य नहीं है। लड़की का भी दुर्भाग्य ही है और लड़के का भी। अमीरी के वातावरण में पली हुई लड़की गरीबी के वातावरण में जाकर कितनी दुखी होती है इसकी कल्पना की भी जा सकती है और अमीर की लड़की को खुश रखने के लिये लड़के वालों को कितना कष्ट उठाना पड़ता है इसको भी भुक्तभोगी ही जानते हैं। इस बात को लेकर अधिकांश स्थानों पर दोनों का आधा जीवन बड़े कष्ट से बीतता है, और शान्ति होती है तब, जब विवशता के कारण दोनों के हृदय में एक तरह की जड़ता आ जाती है, अथवा बहुत से लड़के बच्चे पैदा होकर जब अपनी तरफ ध्यान खींच लेते हैं। श्रीमान घर की लड़की गरीब घर की बहू बनकर जब अपने पीहर (पितृगृह) आती है और वहां गरीबी भगाने से आई हुई अपनी भौजाइयों को देखती है तब इस की वेदना या तो वह जानती है या कोई अन्तर्यामी हो तो वह।

जातिभेद के कारण अगर ऐसी परिस्थिति निर्माण होती है तो यह बात जातिभेद के समर्थन में नहीं किन्तु जातिभेद के विनाश के समर्थन में ही उपयोगी हो सकती है।

इससे त्याग का भी अभ्यास नहीं होता। त्याग तो तप है और वह स्वेच्छा से ही हो सकता है। विवशता के साथ भूखों मरने से उपवास की तपस्या नहीं होती। इसी प्रकार विवशता के कारण गरीब को लड़की देने से त्याग की तपस्या नहीं होती।

भाग है वहां जहां वर कन्या में गुणानुराग होजाय और उसके कारण वे वैभव की पर्वाह छोड़कर दाम्पत्य सूत्र में बंधे। पर ऐसी घटनाओं में तो प्रायः जातिभेद से बाधा ही उपस्थित होती है।

इस प्रकार जातिभेद से अमीर गरीब के वर्गों को मिटाने की बातों से भी जातिभेद का समर्थन नहीं होता।

२९-अर्थ की अनर्थता

प्रश्न---अर्थमनर्थं भावय नित्यं, इसमें कितना सत्य है। अर्थ तो एक पुरुषार्थ है उसे अनर्थ कहना कहां तक ठीक है।

उत्तर—अर्थ पुरुषार्थ का मतलब यह है कि हम मुफ्त में न खायें। अपने निर्वाह के लिये जो कुछ हम खर्च करते हैं उसके बदले में समाज को कुछ सेवा देते रहें और लेने के अनुरूप तथा यथेष्ट सेवा देते रहें। मुफ्तखोरी को दूर रखना अर्थ पुरुषार्थ का मतलब है यह अनर्थ नहीं, आवश्यक है।

पर ऊपर जो अर्थ को अनर्थ कहा गया है वह अर्थसंग्रह या अर्थासक्ति को अनर्थ कहा गया है। बहुतों के पास लाखों की सम्पत्ति हो सकती है फिर भी वे अर्थ पुरुषार्थी नहीं कहे जा सकते। समाज की कुछ सेवा न करने के कारण मुफ्तखोर ही हो सकते हैं। क्योंकि उनके पास आया हुआ धन उनकी सेवा के बदले में नहीं आया है साथ ही वह निरर्थक भी पड़ा हुआ है। ऐसे लोगों के लिये अर्थ अनर्थ ही है। वह उनमें हरामखोरी की वृत्ति पैदा करता है और दूसरों का शोषण करता है। इसलिये उनका अर्थ एक पुरुषार्थ नहीं, किन्तु अनर्थ है।

एक बात और। अर्थ एक पुरुषार्थ तो है पर है वह धर्म और काम का साधन बहुत से लोग उसे ही साध्य समझ बैठते हैं और फिर उसकी सिद्धि के लिये मन चाहे अनर्थ करते हैं, आज संसार में यही अधिक हो रहा है इसलिये भी अर्थ अनर्थ बना हुआ है। मतलब यह कि उचित प्रतिदान रूप अर्थ पुरुषार्थ को छोड़कर अर्थ अनर्थ ही है। और इस अनर्थरूप अर्थ की तरफ ही लोग बढ़ते जा रहे हैं इसलिये अर्थ को अनर्थ कहा है।

अर्थ आज पूंजीवाद रूपी भयंकर राक्षस–रावण–बना हुआ है और क्रूर साम्राज्यवाद उसी का बेटा मेघनाद है। ऐसी हालत में अर्थ को अनर्थ कहना ठीक ही है।

हां! जो लोग अर्थ को अनर्थ कहकर वेष लेकर या भीख मांगकर गुजर करते हैं, और निर्वाह के लिये परिश्रम करना पाप समझते हैं 'राम नाम जपना, पराया माल अपना, ही जिनका जीवन सूत्र है वे न तो अर्थ त्यागी हैं न अर्थ पुरुषार्थी। वे मुफ्त-खोर अर्थ की अनर्थज्ञता से कोसों दूर हैं। उनके लिये 'अर्थमनर्थं भावय नित्यं' का अर्थ है कि वे मुफ्त की रोटियों को अनर्थ समझें। और परिश्रम करके खायें।

४० काम शत्रु

प्रश्न–काम तो एक पुरुषार्थ है फिर उसे शत्रु समझ कर नष्ट करने का उपदेश क्यों दिया? –जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदं।

उत्तर–जैसे इन्द्रिय मनोनिग्रह का अर्थ इन्द्रियों और मन को मिटा डालना नहीं है किन्तु विषयदासता को मिटा डालना है

इसी प्रकार काम नाश का अर्थ काम का नाश नहीं किन्तु काम की दासता को मिटा डालना है। दुनिया में काम पुरुषार्थ नहीं के बराबर है और उसके स्थानपर कामदासता बैठी है वह व्यक्ति की और समाज की दुश्मन है उसका नाश होना ही चाहिये।

काम पुरुषार्थ सात्त्विक कामरूप है जिसका परिचय है—

अन्न पान परिजन शयन वस्त्र धरा धन धाम।
स्वपर विनाशक हो नहीं है यह सात्त्विक काम॥
पर निमित्त लेकर जहां इन्द्रिय मन सन्तोष।
स्वपर विरोधी हो नहीं वहीं काम निर्दोष॥
काम न अतिसंभोग है काम नहीं व्यभिचार।
सच्चा काम जहां रहे वहां न पापाचार॥

इस कामपुरुषार्थ को शत्रु नहीं कहा है। पर काम का यह अर्थ दुनिया नहीं समझती। उसका झुकाव काम के राजस और तामस रूपों पर है। उससे व्यक्ति का भी नाश है और समाज का भी। काम के नाम पर मनुष्य शोषक अन्धस्वार्थी बना हुआ है। क्रूर और मूढ़ बनकर स्वपर नाशक बना हुआ है।

रहे अन्धस्वार्थी सदा लूटे झूठा नाम।
पर को पीड़ा हो जहां वह है राजस काम॥
निपट क्रूरता है जहां विकट मोह का राज्य।
हम भोगे जाते जहां तामस का साम्राज्य॥

यही है काम शत्रु। जिसके वध करने की जरूरत है।

४१-पौराणिक कथाएँ

प्रश्न-पुराणों की कथाएँ पारमार्थिक शाश्वत सत्य को प्रगट करनेवाली होने पर भी सुधारक लोग उन्हें क्यों नहीं मानते ?

उत्तर-इसके चार कारण है। १-अर्थ लोप, २-कथाकला का विकास, ३-सत्य का रूप परिवर्तन। ४-असामयिकता।

१-पौराणिक कथाओं में जहां लक्षणा से काम लिया गया है वहां आज अभिधा से काम लिया जाता है। लक्ष्मण की चिकित्सा के लिये पहाड़ में जितनी जड़ी बूटियाँ मिली उन सब का गट्ठा बांधकर हनुमान उठा लाये, और, लक्षणा की दृष्टि से वैद्य ने कहा—हनुमान, तुम तो पूरा पहाड़ ही उठा लाये तो इस लक्षणा को अभिधा समझकर लोगों ने हनुमान के सिर पर पहाड़ बनाना शुरु कर दिया। पौराणिक कथाएँ हास्यास्पद होगई उनका अर्थ भी लुप्त हो गया। लक्षणा और व्यंजना पर उपेक्षा करने से पौराणिक कथाओं का वास्तविक अर्थ लुप्त हो गया इसलिये सुधारक उन्हें पसन्द नहीं करते।

२-आजकल कथा लिखने की कला का इतना अधिक विकास हुआ है कि आधुनिक कथाओं के सामने पुराने जमाने की कथाएँ रुचिकर नहीं होतीं। इतिहासज्ञ खोज की दृष्टि से या लेखन कला के इतिहास की दृष्टि से पुराने कथासाहित्य को महत्त्व दें यह ठीक है, शुद्धकला की दृष्टि से आज कथाकला का काफी विकास हुआ है।

३-तीसरा कारण है सत्य का रूप परिवर्तन। युगयुग के अनुसार परिस्थिति बदलती है और परिस्थिति के अनुसार सत्य का

रूप बदलता है। पुरानी कथाओं में सत्य का जो रूप मिलता है आज वह उपयोगी नहीं हो सकता। सत्य वचन की उपयोगिता आज भी है पर उसके लिये हरिश्चन्द्र की कथा उपयोगी नहीं हो सकती। दान अतिथिसत्कार आज भी महत्त्व रखते हैं पर उसके लिये लड़के का मांस परोसना उचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पुराने जमाने की बहुत सी कथाएँ सत्यरूप की दृष्टि से आज अनुकरणीय नहीं हो सकती उनके आशय को समझकर उस का अर्थ आज के युग के अनुरूप करना विशेष विद्वानों का काम है पर कथा साहित्य विशेष विद्वानों को दृष्टि में रखकर नहीं लिखा जाता। इसलिये पाठक पुरानी कथाओं को पसन्द नहीं करता।

४-कई दृष्टियों से पुराना कथा साहित्य असामयिक—आउट आफडेट—हो गया है। मानवजीवन का जो चित्रण पुराने जमाने में आकर्षक था वह आज नहीं है जैसी बातों पर पहिले के लोग विश्वास कर लेते थे आज उन पर नहीं इसलिये प्राचीन कथा साहित्य अमाननीय हो गया है।

पुराने कथा साहित्य में भी आज के युग के लिये कथाएँ हैं पर उनका वेषपरिवर्तन होना जरूरी है। तभी उनका शाश्वत सत्य सुधारकों के लिये और आज की जनता के लिये उपयोगी हो सकता है।

४२-मोक्ष पुरुषार्थ

प्रश्न—गीता आदि में भी मोक्ष इसी जीवन की चीज समझा गया है फिर महाभारतादि में त्रिवर्ग संसाधन ही ध्येय क्यों माना गया!

उत्तर — मोक्ष पुरुषार्थ वास्तव में इसी जीवन की चीज है जैसा कि मैंने कृष्णगीता में लिखा है—

समझ मत दूर मोक्ष का द्वार ।
यहीं है मोक्ष और संसार ॥

पुराने शास्त्रों में भी यह मान्यता मिलती है । किन्तु जब धर्मशास्त्र में दर्शन आदि अन्य शास्त्रों का समावेश हो गया तब मोक्ष पर-लोक-प्रधान हो गया और इस जीवन के लिये सिर्फ त्रिवर्ग पर ही जोर दिया जाने लगा ।

हां ! त्रिवर्ग पर जोर देने का एक कारण और है । त्रिवर्ग का सम्बन्ध सामाजिक जिम्मेदारियों से है । सच बोलना चोरी न करना आदि का सम्बन्ध पूरे रूप में सामाजिकता के साथ है । इसीप्रकार मिहनत करके पैसा पैदा करने का सम्बन्ध भी समाज की जरूरतों को पूरा करने से है, और काम का सम्बन्ध भी बहुत कुछ समाज से है । क्योंकि सामाजिक सम्पत्ति के अनुसार ही मनुष्य को काम भोग करना चाहिये । इस प्रकार ये तीनों पुरुषार्थ सामाजिक जीवन के मुख्य अंग हैं लेकिन मोक्ष ऐसा नहीं है । मोक्ष का सम्बन्ध अपने भीतरी सुख से है । समाज की परिस्थिति प्रतिकूल भी हो फिर भी मनुष्य अपने आप में पूर्ण सुखी जीवन्मुक्त बन सकता है । इसलिये ऐसा भी कहा जासकता है कि तीन पुरुषार्थों को सामाजिक जीवन के मुख्य अंग मानकर इनपर जोर दिया गया है । पर इससे यह न समझना चाहिये कि मोक्ष इस जीवन की चीज नहीं है ।

४३—प्रार्थना और सेवा

प्रश्न—क्या जंगल में रहकर परमात्मा से विश्व कल्याण की निरन्तर प्रार्थना करने वाला मुनि विश्व-सेवक नहीं है ?

उत्तर—वह हितैषी है सेवक नहीं। प्रार्थना में सिर्फ अपने हृदय की भावना व्यक्त होती है। और सेवक के लिये कुछ क्रियात्मक रूप भी चाहिये प्रार्थना सेवा का साधन है। साधन को साध्य के लिये अपनाना उचित है पर साधन को ही साध्य मान बैठना भूल है। हां यह हो सकता है कि परिस्थिति प्रतिकूल होने से कोई व्यक्ति प्रार्थना के आगे न बढ़ सके या कुछ समय के लिये रुक जाय पर यह बात परिस्थिति की कहलाई। उसकी इच्छा तो यही होना चाहिये कि प्रार्थना उसका ध्येय न हो और प्रार्थना को सेवा समझकर वह वृथा संताप न करे।

यह समझना भ्रम है कि हम प्रार्थना के द्वारा परमात्मा का ध्यान दुनिया की भलाई की तरफ खींचेंगे और इस पर हमारी प्रार्थना भी सेवा कहलायगी। वास्तव में परमात्मा के काम हमारे तुम्हारे आग्रह की पर्वाह नहीं करते। वह सोता नहीं है कि हमारे पुकारने से जग जाय। अगर वह हजारों आदमियों की वेदना और आक्रन्दन से नहीं जागता तो किसी की प्रार्थना से क्या जागेगा ? इसलिये ईश्वर कर्तृत्ववाद के आधार से भी परमात्मा की प्रार्थना सेवा नहीं कहला सकती।

४४-नरनारी-समभाव

प्रश्न—टोप से टोपी, कुआ से कुई, चींटा से चींटी छोटी होती है, आपके मन्दिर में भी सत्य की मूर्ति से अहिंसा की मूर्ति

छोटी है तो फिर स्त्री-पुरुष में समभाव का क्या अर्थ है ? प्रकृति से ही पुरुष का महत्व अधिक है पुरुष के जीवन में कितना भी कष्ट आवे गर्भ सरीखा कष्ट उसे नहीं मिला यह भी उसपर प्रकृति की प्राकृतिक दया है । इसे मिटाकर आप कृत्रिम समता पैदा करने में कैसे सफल हो सकते हैं । स्त्री की इच्छा न हो तो भी पुरुष अपने अधिकार से काम का आनन्द स्वतः ले सकता है पर पुरुष की इच्छा न हो तो स्त्री हजार सिर मारे तो भी वह आनन्द प्राप्त नहीं कर सकती । इस प्रकार कई दृष्टियों से स्त्री पुरुष की अपेक्षा निर्बल ही सिद्ध होती है । मानव-समाज में पुरुष के महत्व को ही अधिक मानना पड़ेगा । आपका समाज भी सत्यसमाज ही है सत्य का समाज पुरुष का समाज, न कि अहिंसा समाज यानी स्त्री-का समाज । तो फिर बनावटी समता के उपदेश से क्या लाभ ?

उत्तर—टोप में न तो कोई पुरुष का चिन्ह है न टोपी में नारी का, इसी प्रकार कुआ कुई आदि की बात है । चींटा की मादा चींटी नहीं है इतने छोटे-बड़े शरीर में नर मादा व्यवहार हो ही नहीं सकता, फिर भी छोटेपन के साथ स्त्रीलिंग का और बड़ेपन के साथ पुल्लिंग का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है इसका कारण यह है कि जिस जमाने में इन शब्दों का प्रयोग शुरु हुआ उस जमाने के लोगों की भावना स्त्री को छोटा समझने की थी । इससे स्त्री को छोटा समझने की बीमारी पुरानी और समाज-व्यापक सिद्ध होती है, वह बीमारी ही नहीं है यह सिद्ध नहीं होता ।

फिर भी एक जमाना ऐसा था जब बड़प्पन स्त्रीलिंग के साथ जोड़ा जाता था । उस जमाने में नारी गृह-संचालिका और

मालिकिन होती थी। इसीलिये शाक्त सम्प्रदाय में ईश्वर नारी है जगदम्बा है। इतना ही नहीं आर्यों के पहिले इस देश की बहुतसी भाषाओं में सूर्य और चन्द्र तथा अन्यदेव भी स्त्री थे। समाज में पुरुषों का महत्व बढ़ा कि सूर्य चन्द्र आदि पुरुष हो गये। सच पूछा जाय तो ये न पुरुष हैं न स्त्री। युग युग के मनुष्यों की भावना के अनुसार इनके वाचकों के लिंग बदलते रहते हैं। इनके आधार से किसी बात के छोटेबड़ेपन का निर्णय करना ठीक नहीं।

लेकिन भाषा का यह लिंग-निर्देश सब जगह ऐसा ही है यह बात नहीं है, बहुत से स्थलों पर स्त्री और पुरुषों के विशेष गुणों की समानता से शब्दों के लिंग निर्देश किये जाते हैं और उनके वाच्यों के लिंगपर उपेक्षा की जाती है।

साधारणतः पुरुष, शरीर में बड़ा, और रूक्ष, स्वर में कठोर और भेदक होता है। नारी, शरीर में छोटी, चिकनी, स्वर में कोमल और कुटुम्ब बनाकर रहने वाली होती है। इन गुणों की समानता से शब्दों को लिंग दिये गये हैं।

कोयल को स्त्री माना गया और कौए को पुरुष। सभी कोयल स्त्रियाँ हैं ऐसी बात नहीं है ऐसा होता तो कोयलों का वंश ही नष्ट हो जाता। और सभी कौए पुरुष होते हैं ऐसी बात भी नहीं है क्यों अकेले पुरुषों के कारण उनका भी वंश नष्ट हो जाता। पर कोयल के मधुर स्वर ने उसे नारी बनाया और कौए के कठोर स्वर ने उसे पुरुष बनाया। अंग्रेजी में सूर्य पुरुष है क्योंकि कठोर है और चन्द्र स्त्री है क्योंकि कोमल है।

इन सब बातों से यही कहना पड़ता है कि शब्द लिंगों ने देश देश के और युग युग के मनुष्यों की भावनाएँ ही इस बारे में व्यक्त की हैं और वे विविध हैं इसलिये इनके आधार से स्त्री पुरुष के अधिकारों का या मान सन्मान का निर्णय नहीं किया जासकता।

अहिंसा और सत्य की मूर्ति में जो छोटा बड़ापन है उस का कारण नरनारी के शरीरों का बड़ा छोटापन है। यों मैंने नर-नारी समभाव की दृष्टि से दोनों मूर्तियों की ऊंचाई एक सरीखी ही रखने का विचार किया था किन्तु जयपुर के शिल्पियों ने कहा कि—यह बात शिल्प शास्त्र के विरुद्ध पड़ती है। दुनिया में नर-नारी के शरीर में छोटा बड़ापन देखा जाता है इसलिये शिल्पशास्त्र भी ऐसा ही कहता है। उनकी इन बातों पर विचार करके मैंने छोटी बड़ी मूर्ति बनाने की आज्ञा दी।

पर शरीर के छोटे बड़पन के कारण ही किसी का मूल्य-अधिकार या मान सन्मान छोटा बड़ा हो जाता है यह बात नहीं है। ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय का, और वैश्य की अपेक्षा शूद्र का शरीर बड़ा और मजबूत होता है पर क्या इसलिये ब्राह्मण आदि की महत्ता घट जाती है?

जैनियों ने इस बारे में बड़ी ही रोचक कल्पना की है। उनका कहना है कि नीचे स्वर्गों में देवों का शरीर सात हाथ का होता है और ज्यों ज्यों ऊंचे स्वर्गों में जाओ देवों का शरीर छोटा छोटा होता जाता है। यहां तक कि सब से ऊंचे दर्जे के देव का शरीर सिर्फ एक ही हाथ का होता है। इसलिये शरीर के महत्व से ही किसी का महत्व समझना भूल है।

देखना यह चाहिये कि शरीर के छोटे बड़ेपन का कारण क्या है ? और वह कारण जरूरी या उपयोगी है कि नहीं। ब्राह्मण विद्वान शरीर पर जो ज्यादः ध्यान नहीं दे पाता उसका कारण यह है कि उसे बुद्धिपर ज्यादह जोर देना पड़ता है। यह स्वाभाविक है और उपयोगी है।

नारी का शरीर छोटा रह जाता है उसका कारण यह कि नये नये मनुष्यों को बनाने के लिये उसे अपने शरीर का कुछ भाग देते रहना पड़ता है। मानव शरीर के निर्माण के लिये ही उसका मासिक धर्म है और रक्त का दूध है। यह जरूरी है उपयोगी है इसलिये अगर उसका शरीर छोटा रह जाता है तो यह उसकी विशेष उपयोगिता का ही चिन्ह है।

पशुता और मनुष्यता में मुख्य अन्तर यही है कि पशुता के राज्य में शारीरिक बल और संहारकता के कारण ही महत्ता पूजा अधिकार आदि मिलता है जब कि मनुष्यता के राज्य में निर्माण रक्षण भावना और बुद्धि के कारण महत्ता पूजा अधिकार यश आदि मिलता है।

साधारण रूप में मनुष्यता की दृष्टि से नर से नारी का स्थान ऊंचा है। क्योंकि मानव निर्माण और मानव सेवा का काम वह अधिक करती है इसके लिये कष्ट भी वह अधिक उठती है। किन्तु ज्यों ज्यों समाज का विकास होता गया समाज के काम बढ़ते गये त्यों त्यों पुरुष को दूसरे काम करने का अवसर मिलता गया और आज पुरुष के सिरपर उपयोगिता पूर्ण इतने काम आगये हैं कि वह सेवा कार्य में मनुष्यता की दृष्टि से नारी के समकक्ष

कहा जासकता है या समकक्ष हो गया है। हां! इतनी बात अवश्य है नारी में सेवाकार्य सहज या प्राकृतिक हैं किन्तु नर में वे कृत्रिम हैं उसे उन्नत समाज की अवस्था के अनुसार कुछ विशेष प्रयत्न करना पड़ता है तब उसकी सेवा नारी के समकक्ष हो पाती है। पर सौभाग्य से समाज-रचना बहुत अंशों में ऐसी हो गई है कि पुरुष की उपयोगिता भी बढ़ गई है उसके जिम्मे भी सेवा के महत्वपूर्ण काम आगये हैं इसलिये वह साधारणतः नारी के समकक्ष हो गया है। पर ही उसने यह समकक्षता कृत्रिम रूप में-या विशेष प्रयत्न करके प्राप्त की हो।

पुरुष में बलात्कार करने की शक्ति है नारी में नहीं है, नारी को गर्भ का कष्ट उठाना पड़ता है नर को नहीं. आदि बातों से सिर्फ यही सिद्ध होता है कि पुरुष में स्वाभाविक रूप में पशुता अधिक है और नारी मे स्वाभाविक रूप में मनुष्यता अधिक है। क्योंकि प्रकृति ने नारी के ऊपर सेवा और तपस्या का भार स्वभाव से ही डाल दिया है। नारी की यह निर्बलता या तपस्या निरुपयोगी होती तब तो इनके कारण कदाचित उसे छोटा कह सकते थे पर मानव रक्षण और वर्धन के लिये नारी की ये सब एँ अनिवार्य हैं तब इससे नारी को छोटा कैसे कह सकते हैं बल्कि इससे उसमें मनुष्यता की दृष्टि से सहज महत्ता मानना पड़ेगी। इस सारी चर्चा के निष्कर्ष रूप ये तीन सूत्र निकलते हैं।

१-पशुता की दृष्टि से नारी नर से छोटी है।

२-मनुष्यता की दृष्टि से नारी नर से बड़ी है।

३-समाज की विकसित अवस्था में जब कि नर नारी की

सहज सेवाओं के बदले में दूसरी अधिक सेवाओं का भार अपने सिरपर लेलेता है तब वह नारी के बराबर हो जाता है।

सत्यसमाज का नरनारी-समभाव इसी तीर्थ दृष्टि से है। क्योंकि समाज आज इसी अवस्था में है और सत्यसमाज इसी दिशा में मानव समाज को बढ़ाना चाहता है।

हां यह हो सकता है कि सैकड़ों पुरुष लाखों नारियों से महान हो और सैकड़ों नारियाँ लाखों पुरुषों से महान हों हरएक नर और हरएक नारी समान हैं ऐसा कहना नहीं है। यों हरएक पुरुष भी हरएक पुरुष से समान नहीं होता। वैयक्तिक छोटे बड़े-पन की बात दूसरी है।

नरनारी समभाव का व्यावहारिक रूप क्या है इसकेलिये निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं।

१—नर और नारी के साथ व्यवहार गुण योग्यता और सेवा के अनुरूप होना चाहिये। नारी नारी होने के ही कारण किसी अधिकार या गौरव से वंचित न रहे।

२—सम्पत्ति के ऊपर नारी का भी अधिकार होना चाहिये। पति की आमदनी में उसका भी हिस्सा होना चाहिये वह सिर्फ खाना कपड़ा आदि पानेवाली नौकरानी ही न रहे।

३—वर पक्ष बड़ा है और कन्यापक्ष छोटा है यह दुर्वासना दिल से निकल जाना चाहिये। साला आदि शब्द गाली बन गये हैं धीरे धीरे यह दुर्भाव जाना चाहिये।

४—घूंघट पर्दा आदि बुरे रिवाज बिलकुल दूर होना चाहिये। विनय की दृष्टि से तो इसका उपयोग होना ही न चाहिये।

५—एक नौकर है वह मालिक के कपड़े धोने को तैयार

है पर मालकिन के कपड़े धोने को तैयार नहीं है, इसमें उसे पुरुषत्व का अपमान मालूम होता है। हां! एक नौकरानी मालिक और मालिकिन, दोनों के कपड़े धोती है उसे पुरुष के कपड़े धोने में नारीत्व का अपमान नहीं मालूम होता यह विषमता जाना चाहिये।

६—कोई पुरुष अगर किसी ऊंचे स्थानपर बैठा हो और नारियाँ जमीन पर हा तो इसमें नारियों का कोई अपमान न समझा जायगा, पर अगर नारी किसी ऊंचे स्थानपर बैठी हो और पुरुष-वर्ग जमीन पर बैठा हो तो इसमें पुरुष वर्ग का अपमान समझा-जायगा यह लैंगिक विषमता है यह न रहना चाहिये।

हां! पुरुषों में कोई गुरुजन या विशेष आदरणीय व्यक्ति हो तो उनके सन्मान का विचार करना आवश्यक है पर यह पुरुषत्व का सन्मान नहीं है किन्तु गुरुत्व आदि का सन्मान है जो कि नारियों के विषय में भी किया जाना चाहिये।

७—सामाजिक धार्मिक राजनैतिक पदों पर स्त्रियों का भी होना आवश्यक है। साधारणतः नारी का स्थान भले ही घर में रहे पर नारी को सब जगह काम करने का अधिकार है इस बात की निशानी रूप में भी नारी को सभी तरह के पदों पर थोड़े बहुत रूप में रहना ही चाहिये। सभा पंचायत आदि में भी नारियों की सदस्दता अनिवार्य है।

८—काम का मूल्य बराबर होनेपर नारी को उसका पारिश्रमिक पुरुष से कम न मिलना चाहिये। जैसे शिक्षण संस्था में समान योग्यता के पदोंपर पुरुष को अधिक वेतन दिया जाय और

नारी को कम दिया जाय तो यह अन्याय है। इसी प्रकार और भी अनेक स्थानों पर भी इस अन्याय से बचना चाहिये।

९-पुनर्विवाह आदि के जैसे अधिकार पुरुष को हों वैसे ही नारी को भी होना चाहिये। बहुपत्नीत्व की प्रथा दूर होना चाहिये। अथवा जैसे अपवाद रूप में बहुपत्नीत्व की प्रथा रहे वैसे अपवाद रूप में बहुपतित्व की प्रथा भी रहना चाहिये। अच्छा यह है कि नर या नारी में विषम दाम्पत्य न हो।

१०-नारी को मोक्ष जाने का अधिकार नहीं, उसे पूजा करने का अधिकार नहीं, वह मूर्ति नहीं छू सकती, वह अभिषेक नहीं कर सकती, योग्य विदुषी होनेपर भी वह पुरुषों के सामने प्रवचन नहीं कर सकती इत्यादि पक्षपातपूर्ण और पुरुषत्व मदोन्माद रूप विचार धाराएँ कदापि न रहना चाहिये। शास्त्रों में हों तो उन्हें अमान्य करना चाहिये रिवाज में हों तो ऐसे रिवाज तोड़ना चाहिये।

इस प्रकार और भी आवश्यक सूचनाएँ समय समय पर दी जासकती हैं।

नर नारी समभाव की ये बातें बहुत जरूरी हैं। अगर नर-नारी में प्राकृतिक विषमता भी हो तो भी इनके पालन में कोई बाधा नहीं है बल्कि न्यायोचित होने से अनिवार्य हैं।

सत्यसमाज नाम पुरुष के नामपर बना है जरूर, पर इसका कारण हिन्दी में उभयलिंगी शब्दों का अभाव है। सत्य शब्द के पुल्लिंग स्त्रीलिंग और उभयलिंगी या सामान्यलिंगी रूप अलग अलग होते तो उसके उभयलिंगी रूप को ईश्वर के स्थानपर रक्खा जाता

और उसी के नाम पर समाज होता। उसके पुल्लिंग रूप को जगपिता और स्त्रीलिंग रूप को जगदम्बा कहा जाता। जब तक सशाधित मानव भाषा का निर्माण नहीं हुआ है तब तक मनुष्यसमाज को भी शब्द प्रयोग में लैंगिक विषमता का शिकार होना पड़ता है मनुष्यसमाज की नीति ईश्वर समाज आदि के लिये उभयलिंगी या सामान्यलिंगी शब्दों के प्रयोग की है।

४१-शक्ति की कसौटी

प्रश्न-जिसकी शक्ति प्रबल होती है वह प्रायः दृढ़ होता है स्थिर होता है तो सबसे प्रबल शक्तिवाला मन चंचल क्यों है ?

उत्तर-मन दृढ तो है पर दृढ़ता का और शक्ति का स्थिरता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। जिन्दों की अपेक्षा मुर्दे स्थिर है तो क्या वे शक्तिशाली हैं ! उन्नतिशील समाजों की अपेक्षा अवनतिशील समाज अमुक अपेक्षा अधिक स्थिर होते हैं क्या इसीलिये वे शक्तिशाली हैं। सच पूछा जाय तो गति प्रगति आदि में शक्ति का परिचय विशेष रूप में मिलता है। स्थिरता में नहीं। मन की दुर्दमनीय चंचलता मन की शक्ति का प्रमाण है। हां ! शक्ति का हरएक कार्य अच्छा ही होता है ऐसा नियम नहीं है। इसलिये मन की चंचलता अच्छी ही होती है यह नहीं कहा जा सकता। इसलिये जहां मन की चंचलता नुकसान पहुँचाती है वहां उसे रोकना ही उचित है। मन की चंचलता यदि शक्ति है तो उस शक्ति के दुरुपयोग को रोकना महाशक्ति है। शक्ति का परिचय परिवर्तन से लगता है। स्थिर को चलाना या चलाते रहना शक्ति

है और चलते को रोकना शक्ति है। शक्ति का गठबन्धन न केवल चञ्चलता से है न केवल स्थिरता से।

४६—बार बार प्रयत्न

प्रश्न—जगत तो कुत्ते की पूंछ की तरह है वह थोड़ी देर के लिये सीधा हो जाता है फिर वैसा का वैसा। उसे बार बार सीधा करने के लिये क्यों सिर पच्ची की जाय ?

उत्तर—जगत ही क्यों, हमारा पेट भी ऐसा ही है, आज भरो कल फिर खाली हो जाता है, पर क्या इसीलिये पेट भरना रोका जा सकता है या रोकना चाहिये ! आज पेट भरने की इतनी सार्थकता तो है ही कि बारह या चौबीस घंटे तक जीने में सुविधा होगी फिर खाली होगा तो अगले चौबीस घंटे के लिये फिर भर जायगा। इसी प्रकार जगत की बात है। हमारे प्रयत्न से वह जितनी देर सीधा रहे उतना ही अच्छा। बाद में फिर टेढ़ा होगा तो फिर सीधा किया जायगा हम अपने क्षुद्र प्रयत्नों को इतना कीमती समझने का घमंड क्यों करें कि उनका फल अनन्त काल के लिये होना चाहिये। जितने समय के लिये हुआ उतना ही काफी समझकर जगत हित में लगे रहना चाहिये। झाड़ू लगाने पर भी कल कचरा आयगा क्या इसीलिये आज भी झाड़ू न लगायें ?

४७—त्याग और भोग

प्रश्न—त्याग और भोग का क्या अर्थ ? जिसको समाज भोग कहता है क्या वह अपने सर्वस्व का त्याग नहीं है ? क्या सन्तान

को उत्पन्न करना भोग है ! वह तो अपने जीवन स्वरूप वीर्य को त्यागकर सृष्टि को बढाता है। हमारे मां-बाप ने यही तो किया है कि अपने जीवन की सर्वोत्कृष्ट शक्ति का यज्ञ करके हमें जन्म दिया। क्या हम भी सन्तान को पैदा करके उसका समुचित पालन पोषण किये बिना मातापिता से उऋण हो सकते हैं ?

उत्तर—अपने आनन्द के लिये जगत की वस्तुओं का उपयोग करना भोग है। और जगत के आनन्द के लिये उन वस्तुओं का छोड़ना त्याग है। भोग पाप नहीं है बशर्ते कि वह दूसरों के उचित भोग में बाधक न बने भविष्य में हानिकर न हो। इसी प्रकार जिस त्याग से दुनिया को कोई लाभ नहीं हो सकता जो दुनिया की भलाई की दृष्टि से विवेक पूर्वक किया नहीं गया है वह त्याग नहीं है।

नरनारी की कामक्रीड़ा त्याग नहीं है क्योंकि उसमें अपने ही आनन्द की मुख्यता रहती है, फिर भले ही उसमें अपनी कैसी भी कीमती चीज बहा देना पड़ती हो। हां ! जो कामक्रीड़ा व्यभिचार या अत्याचार रूप नहीं है स्वास्थ्य को बर्बाद नहीं करती है वह पाप नहीं है। न उसके त्याग में कोई पुण्य है।

नरनारी की कामक्रीड़ा सन्तान के ऊपर मां बाप का उपकार नहीं है। किन्तु उसके पैदा करने में पालन-पोषण में मां-बाप को जो कष्ट उठाना पड़ता है सेवा करना पड़ती है वही मां-बाप का महान उपकार है।

मां बाप का ऋण चुकाने के लिये तीन काम करना चाहिये। १—मां बाप की जीवनभर सेवा करना २—सन्तान का पालन-पोषण

करना है—समाज की सेवा करना।

उचित यह है कि तीनों काम किये जायँ। हां! मां-बाप जिन्दे न हो अथवा तीसरा काम बहुत अधिक परिमाण में करना हो और उसमें स्वार्थ नहीं परमार्थ की जगत्कल्याण की भावना हो तो अपवाद रूप से तीसरे काम से पहिले काम की पूर्ति हो सकती है। हां! मां बाप की अनुचित सेवा हर हालत में छोड़ी जासकती है। मां बाप का भरण पोषण करना उनकी बीमारी में सेवा करना, उनको निर्भय और निराकुल रखना उचित है पर मां बाप में अन्ध-विश्वास हो, स्वपर कल्याण विरोधी इच्छाएँ हों और वे उसके लिये हठ करें तो उनको सन्तुष्ट रखने के लिये उनका हठ पूरा नहीं किया जासकता। हां उनकी अन्य सेवा मतभेद आदि होनेपर भी करना चाहिये।

सन्तान का पालन पोषण करना हर हालत में जरूरी है। हां! सन्तान न हो तो सन्तान के पालन पोषण की शक्ति समाज सेवा में लगाना चाहिये।

सन्तान के पालन-पोषण की जिम्मेदारी से भागकर आत्म-कल्याण के नामपर साधु बन जाना ठीक नहीं, फिर भी सन्तान न होगी तो उऋण न हो सकेंगे यह कहना भी ठीक नहीं। मनुष्य जाति की संख्या एकदम घट रही हो और सन्तानोत्पादन से विरक्त हो गये हों उस समय सन्तानोत्पादन आवश्यक समाज सेवा कहा जायगा और मातापिता का ऋण चुकाने के लिये भी वह जरूरी समझा जायगा। साधारणतः समाज सेवा के काम से पहिले दो कार्यों की भरपाई की जासकती है फिर भी इतना ध्यान अवश्य

रखना चाहिये कि पहिले दो कार्यों का अवसर हो तो यथाशक्य उन्हें पूरा अवश्य करना चाहिये।

४८-निकट और दूर

प्रश्न—किसी भी व्यक्ति के प्रति निकट से जितना प्रेम नहीं होता उतना दूर से क्यों होता है? (फिर वह दूरी चाहे क्षेत्र की हो या काल की)

उत्तर—ऐसा होता तो है पर ऐसा ही नहीं होता। इस विषय में पांच प्रकार हैं।

१ उभयोन्नत २ उभयस्थिर ३ दूरोन्नत ४ निकटोन्नत ५ उभयावनत।

१-उभयोन्नत वह प्रेम है जो निकटता और दूरी दोनों अवस्थाओं में बढ़ता जाता है। जब प्रेमी गुणग्राही और कृतज्ञ होता है और प्रेमपात्र गम्भीर और महान होता है तब प्रेम बढ़ता ही है। निकट आने पर वह विशेष विशेष गुणों और हितैषिता का दर्शन करता है इसलिये प्रेम बढ़ता है और दूर जाने पर उस की कमी का अनुभव बार बार होता है इसलिये प्रेम बढ़ता जाता है।

२-प्रेम जब काफी मात्रा में बढ़ जाता है अनुरक्ति गहरी और स्थिर हो जाती है संयोग और वियोग का उस पर असर नहीं पड़ता तब वह प्रेम उभयस्थिर कहलाता है। उभयोन्नत प्रेम स्वाभाविक रूप में उभयस्थिर अवस्था में पहुँच जाता है।

३-जहां गुणानुराग आदि तो होता है पर साथ ही या

तो मानवजीवन की महत्ता के पहिचानने में भ्रम होता है अथवा स्वार्थ सिद्धि की अनुचित लालसा होती है वहां निकटता से प्रेम घटता है। दूर से तो वाटिका के पुष्पों की तरह गुणों की सुगन्ध ही आती है उस पर मनुष्य पात्र के बारे में काफ़ी अलौकिक कल्पना कर लेता है पर निकट में उस अलौकिकता की तृप्ति नहीं होती इसलिये निकट में प्रेम घटता है और दूर में प्रेम बढ़ता है।

महात्माओं के जीवन में लोग उतने प्रेम आदर आदि नहीं करते क्योंकि महत्ता के साथ जिस अलौकिकता का वृथा-सम्बन्ध लोग जोड़ लिया करते हैं वह उनके जीवन में दिखाई नहीं देती। परोक्ष में कल्पना बेलगाम दौड़ती है और महात्माओं के जीवन के साथ ऐसे ऐसे अविश्वसनीय अतिशय जोड़ लिये जाते हैं जिनकी प्रत्यक्ष में कल्पना करना भी हास्यास्पद होगा।

प्रत्यक्ष में स्वार्थ संघर्ष भी होता है, इसलिये आशाभंग होता है जब कि परोक्ष मे तो अनुचित आशाएँ भी सम्भावना के रूप में जिन्दी रहती हैं इसलिये सब सरपञ्ज ही दिखाई देता है। प्रत्यक्ष में सम्भावना का मापतौल हो जाता है इसलिये सम्भाव्य आशाओं को धक्का लगता है। और इससे प्रेम घटता है।

जो प्रेम परोक्ष में पुनरुज्जीवित होता है या बढ़ता है वह बेबुनियाद तो नहीं है फिर भी उसके साथ कोई अज्ञान या स्वार्थ अवश्य लगा हुआ है जो निकटता में प्रेम को कम कर देता है।

४—निकट में जो प्रेम बढ़ जाता है और दूर में घट जाता है वह गहरा नहीं है। वह शिष्टाचार से कुछ ही ऊंचा है।

५-जो प्रेम बिलकुल स्वार्थ पर अवलम्बित रहता है—भले ही वह स्वार्थ कितना ही प्रच्छन्न क्यों न हो—वह निकट रहे या दूर, हर हालत में अन्त में नष्ट हो जाता है। दूर में वह भूल जाता है, निकट में संघर्ष आदि के कारण द्वेषादि रूप में परिणत हो जाता है।

प्रेमपात्र में अगर दंभ छल आदि हो तो एक दिन प्रेम नष्ट ही हो जायगा पर अगर उसमें ऐसी बात न हो फिर भी अगर प्रेम घटता हो तो इसमें अपना ही अज्ञान या स्वार्थ कारण मानना चाहिये। ये अगर निकल जायँ तो निकटता में भी प्रेम को घटने की नौबत न आयगी।

४९-उन्मुख और परान्मुख

प्रश्न—मनोविज्ञान के आधार पर विचार किया जाय तो जिसके प्रति हम प्रेम करते हैं उसका आकर्षण हमारी तरफ जरूर होना चाहिये। परन्तु कई बार ऐसा अनुभव क्यों होता है कि जिसे हम बहुत चाहते हैं वह तो हम से दूर दूर भागता है और जिससे हम किनाराकशी करते हैं वह हमसे चिपककर रहना चाहता है।

उत्तर—जहां मोह नहीं है प्रेम है, प्रेमपात्र के उपकार की मुख्यता है वहां परस्पर आकर्षण प्रायः होता ही है। अगर नहीं होता है तो उसकी गहरी वेदना हमें नहीं होती। पर अधिकांश जगह प्रेम नहीं होता मोह होता है इससे जिस रूप में कोई किसी को चाहता है उसमें प्रेमपात्र के हित अहित या रुचि अरुचि का विचार नहीं किया जाता। रावण सीताजी को चाहता था पर उसे

न सीताजी के हित का ध्यान था न रुचि का। इसलिये वह मोह था मोह से प्रत्याकर्षण की आशा न रखना चाहिये।

हम एक सुन्दरी को चाहते हैं उसके सामने शादी का प्रस्ताव रखते हैं पर यह नहीं सोचते कि हमारी योग्यता क्या है और सुन्दरी की रुचि और आशा क्या है ऐसी हालत में यह सर्वथा स्वार्थरूप होने से मोह ही कहलाया तब अगर इससे प्रत्याकर्षण न हो तो यह स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार जहां स्वार्थों का संघर्ष है रुचि का विरोध है वहां हम अपनी रुचि या स्वार्थ के लिये प्रेम दिखलाते हैं तो उसके बदले में प्रत्याकर्षण न होगा। हां ! जहां सचमुच प्रेम है वहां प्रत्याकर्षण प्रायः अवश्य होता है।

साधारण नीति यह है कि विश्वमैत्री और आराध्य भक्ति के सिवाय विशेष चाहना हमें उसी की करना चाहिये जो हमारी चाहना का मूल्य समझता हो। जबर्दस्ती चाहना करना अपने गौरव को तो खोना ही है, चाहना को व्यर्थ तो बहाना ही है साथ ही प्रेमपात्र में अरुचि के कारण प्रतिक्रिया पैदा करना है। इसलिये ऐसे मामलों में निःस्वार्थता और आत्मगौरव का खयाल अवश्य रखना चाहिये, तब आकर्षण प्रत्याकर्षण का वैयधिकरण्य न होगा।

५०-समझौता

प्रश्न-सत्य यही है कि हम नग्न अवस्था में उत्पन्न हुए हैं परन्तु व्यवहार में सुन्दरता के लिये विविध वस्त्राभूषणों से आच्छन्न होकर चलना पड़ता है उसी प्रकार सत्य यही है कि हम शिव और सुन्दर को यथार्थ रूप में व्यक्त करें परन्तु व्यावहारिक

सुविधा के लिये हमें उस परम सत्य को भी आच्छन्न करके प्रगट करना पड़ता है, यह कैसे हो सकता है कि हम असत्य और अनित्य होते हुए भी नामरूप के साथ समझौता करके नहीं चलें ? सफलता असफलता सद्योग असद्योग आदि के लिये सत्य धर्म और विज्ञान की अपेक्षा समझौता करके चलने की कला ही विशेष आवश्यक है। इसके लिये नग्न सत्य के लिये आग्रह की क्या आवश्यकता !

उत्तर—यथार्थ अर्थात् तथ्य से सत्य में जो अन्तर है उसीसे समझौते की आवश्यकता सिद्ध हो जाता है। तथ्य सत्य भी होता है और असत्य भी। और कहीं कहीं अतथ्य भी सत्य होता है। इस प्रकार सत्य अमुक अंश में असत्य से दूषित रहता है पर उसी से हमें काम चलाना पड़ता है।

पानी की हर एक बूंद में कुछ न कुछ रजकण होता ही है। हरिद्वार या हिमालय के ऊपर भी और गंगा के जल में भी थोड़ी बहुत अशुद्धि रहती है फिर भी गंगाजल शुद्ध है और गटर का पानी अशुद्ध, इस प्रकार का सापेक्ष व्यवहार चलता है और उसका उपयोग भी है।

पर कोई यह कहे कि अशुद्ध तो गंगा जल भी है फिर गटर के पानी पीने में भी क्या हर्ज ! तो उसे हमें रोकना पड़ेगा। और उसे सिखाना पड़ेगा कि अशुद्धि इतनी न बढ़ जाय कि वह मृत्युनाशक हो जाय। अच्छी तरह जिन्दा रहने के लिये पानी है अगर पानी की अशुद्धि इतनी हो कि पानी पीने के लक्ष्य को नष्ट कर दे तो हमे ऐसा पानी छोड़ना पड़ेगा।

पुराने जमाने में तीर्थंकरों ने भी अतथ्य से अयथार्थ से समझौता किया है उसके बिना उनकी गति नहीं थी पर यह भी ठीक है कि उससे लाभ के साथ हानि भी हुई है। इसलिये समझौते की विवशता को स्वीकार करके भी हमें अयथार्थ की मात्रा कम से कम डालना चाहिये। नग्न सत्य का आग्रह भले ही कम हो पर मैले कुचैले चिथड़ों से बचकर रहना चाहिये। और सफलता के बारे में हमारी दृष्टि संकुचित न होना चाहिये सफलता के लिये हमें कुछ बाट देखने की आवश्यकता हो तो हम बाट देखें। थोड़े ही समय बाद वह सफलता नष्ट हो जाय या असत्य की सफलता बने जाय इस बात का भी खयाल रखना चाहिये। इस बारे में देशकाल निरपेक्ष ठीक ठीक मापतौल करके बताना कठिन है फिर भी कुछ सूचनाएँ दी जाती हैं उनसे अन्दाज लगेगा।

१—हजारों वर्ष पहिले जो अतथ्य समझौते के लायक समझा जाता था आज भी वह समझौते के योग्य है यह न समझना चाहिये। पुराने जमाने में किसी कहानी के पात्र भूत पिशाच देव आदि बन सकते थे पर आज नहीं बन सकते।

२—मुख्य ध्येय को हानि पहुंचे ऐसे अतथ्य से बचना चाहिये।

३—अतथ्य के स्वीकार को आपद्धर्म के रूप में समझना चाहिये और अवसर आने पर उसे कम करने से न चूकना चाहिये। उसकी मात्रा कम से कम करना चाहिये।

४—यह देख लेना चाहिये कि थोड़े से अतथ्य से किसी महान सत्य के प्रचार में सुभीता होता है कि नहीं!

५-असत्य की असत्यता लोग समझ सकें इस बात के बीज सुरक्षित रखना चाहिये। जिससे भविष्य में उसका संशोधन जल्दी हो सके अथवा आवश्यकता न रहने पर वह जल्दी हटाया जा सके।

इस बारे में ऐसी ही कुछ सूचनाएँ और भी निकल आयेंगी समझौता बहुत जरूरी है पर यह बात ध्यान में रखने की है कि समझौते के नामपर हम उद्देशभ्रष्ट या कुमार्गगामी न हो जायँ, आत्मवंचना न कर बैठें। बहुत से लोग अपनी कायरता के कारण जनप्रवाह की धारा में बह जाते हैं कुछ नाम आदि कमा लेते हैं और फिर कहते हैं हमने तो यह समझौता किया इससे वे थोड़ा बहुत लाभ भले ही उठा लें पर जनता को डुबा देते हैं। और अपना भी पतन करते हैं। समझौते की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी इस खतरे की तरफ खास तौर से ध्यान आकर्षित किया जाता है।

५१-माता पिता का देवत्व

प्रश्न-मातापिता ने हमें पैदा करके क्या हमारा कोई उपकार किया? अपनी काम वासना की तृप्ति करके हमें इस दुःख पूर्ण संसार में डाला क्या यह उनका अपराध नहीं है? फिर 'मातृदेवो भव पितृदेवो भव' इस प्रकार के राग अलापने का क्या अर्थ?

उत्तर-'संसार दुःखपूर्ण है' इस प्रकार भावावेशमय वाक्य कहते बहुत हैं पर प्रायः मानता कोई नहीं है। यही कारण है कि कोई कितने भी आराम से किसी के प्राण लेना चाहे कोई देने को तैयार नहीं होता। क्योंकि उसे संसार में दुःख की अपेक्षा सुख अधिक मालूम होता है। जिस दिन जिसको सुख की अपेक्षा दुःख

अधिक मालूम होगा उसी दिन वह मरने को तैयार होगा। यद्यपि कभी कभी महान दुःख में आदमी ऊब जाता है फिर भी उसे सुख की आशा रहती ही है। इसलिये संसार को एकान्त दुःखमय नहीं कहा जासकता और न टोटल मिलानेपर सुख की अपेक्षा दुःख का समय अधिक कहा जासकता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि दुःखमय संसार में हमें जन्म दिया। परलोकवाद के अनुसार पहिले जन्म में शरीर छोड़ने के बाद हमारा कहीं न कहीं पैदा होना जरूरी था। अगर अगर कोई मनुष्य युगल हमें जन्म देने को राजी न होता तो हमें पशुपक्षी कीट पतंग आदि में जन्म लेना पड़ता, उसकी अपेक्षा हमें मनुष्य जन्म मिला यह क्या बुरा है।

माता-पिता ने काम वासना अवश्य पूरी की पर इसके लिये सन्तान उसके सामने ऋणी नहीं है। किन्तु गर्भधारण से लेकर जवानी के प्रारम्भ तक उनने जो हमारे पालन पोषण के लिये हमें मनुष्य बनाने के लिये दिनरात परिश्रम किया, हर हालत में प्रेम की वर्षा की उसी के कारण वे देव के समान हैं विशेष अपवादों को छोड़कर मातापिता का उपकार असीम है।

५२-मातापिता और भार्या

प्रश्न—मातापिता ने अपने सर्वस्व का त्याग करके उनके अंश रूप में हमे दुनिया को भेट दिया तो उनके अपमान के निकट के आत्मीय होते हुए भी न मालूम कहां की आई हुई भार्या के लिये हम उनका परित्याग तक क्यों करते हैं? क्या यह उन्हीं के कामुक-संस्कारों का प्रताप नहीं है?

उत्तर-पुरुष अधूरा है उसे पूरा बनने के लिये नारी जरूरी है, नारी भी अधूरी है उसे पूरी बनने के लिये पुरुष का सहयोग जरूरी है, इसके बिना संसार नहीं चल सकता, मातापिता भी नहीं बन सकते। प्रायः कोई मातापिता नहीं चाहते कि मेरा बेटा अधूरा रहे या बेटी अधूरी रहे इसलिये मातापिता की परम्परा चलाने के लिये भी पति-पत्नी बनना जरूरी है अगर इसके लिये मातापिता का त्याग भी जरूरी होता तो भी वह करना कर्तव्य समझा जाता। यह प्रश्न कामुकता का नहीं है किन्तु मानवता के जिन्दे रहने का है।

भार्या कहीं से आई है इसलिये उसका मूल्य कम नहीं हो जाता वह तो कहीं से आई है और सम्भवतः साथ में कुछ लाई है इससे तुम्हारा कुछ लुट नहीं गया है पर वह जहां से आई है अपना घर तोड़कर आई है अपने सारे कुटुम्ब अपने चिर परिचितों से सदा के लिये बिछुड़कर आई है उसका यह त्याग मातापिता के त्याग से कुछ कम नहीं है इसलिये कृतज्ञता गुणानुराग की दृष्टि से भी पत्नी अभिनन्दनीय आदरणीय और सेवनीय है। उसकी अवहेलना करने की जरूरत नहीं है बल्कि भार्या की अवहेलना कृतघ्नता है।

पर उसके लिये मातापिता के त्याग की जरूरत नहीं है। भार्या सहचरी है, वह तो साथ ही रहेगी पर साथ रहकर दोनों ही मातापिता की सेवा करें यही कर्तव्य है। न मातापिता के पीछे भार्या के त्याग की नौबत आना चाहिये न भार्या के पीछे मां-बाप के त्याग की।

हां ! यह हो सकता है कि अलग घर बसाना पड़े। सो साधारणतः इसमें कोई बुराई नहीं है बल्कि नियत समय पर कुटुम्ब जन्मोत्सव करना ही चाहिये। पर मा-बाप के पालन पोषण और सेवा की उपेक्षा न करना चाहिये। इतना ध्यान रखकर मा बाप से अलग रहा जा सकता है और भार्या को भी पूर्ण रूप से अपनाया जासकता है। वह अपनाना विश्व हित की दृष्टि से आत्महित की दृष्टि से और मातापिता का वंश चलाये रखने की दृष्टि से जरूरी है। यह कामुकता के संस्कारों का प्रभाव नहीं किन्तु मानव जीवन की अनिवार्यता है। हां ! इसे निभाने की कला हममें होना चाहिये।

७३–जन्ममरण का त्याग

प्रश्न–क्या जन्ममरण दुखरूप नहीं है यदि है तो फिर आप उसके परित्याग का उपदेश क्यों नहीं देते ?

उत्तर–जो बात असम्भव है उसका उपदेश देकर क्या करूं ? जन्ममरण का त्याग हो ही नहीं सकता फिर उसके उपदेश से क्या होगा ? जो हो सकता है यही कि वह जीवन के दुःखों को कम किया जाय और सुख बढ़ाया जाय। जन्ममरण के दुःखों को दूर करने का उपदेश देने वाले या इसी मार्ग पर चलने वाले जंगल में भागकर तपस्या करके दुनिया का कुछ दुःख ही बढ़ाते हैं और सुखवृद्धि रोकते हैं। इसलिये मैं जन्ममरण के छूटने का न तो दावा करता हूं न ऐसा झूठा प्रलोभन किसी को देना चाहता हूं। विश्व सुखवर्धन का ही उपदेश देता हूं। और अगर जन्म-मरण से रहित कोई अवस्था होगी तो वह उसे मिलेगी बल्कि उसे

ही मिलेगी जो विश्व सुखवर्धक है ऐसी हालत में विश्व सुखवर्धन का मार्ग पकड़ना ही श्रेयस्कर है। जन्ममरण से छूटने की निराधार कल्पना से बचा रहना चाहता हूं। हां! जिनको इस कल्पना में मजा आता है और इसके आधार पर विश्व सुखवर्धन में लगे रहना चाहते हैं उनका विरोध मैं नहीं करना चाहता। मेरे लिये विश्व-सुखवर्धन मुख्य है। लोक और परलोक सब दृष्टियों से यही उपयोगी है।

५४—मानव का विकास

प्रश्न—क्या मानव का इतना विकास सम्भव है कि हम सब हिंसा करते समय लज्जित हों, झूठ बोलते समय कांपने लग जायँ, चोरी करते समय बेचैन हों, दुःशील सेवन में शिथिल हो जायँ और अधिक धनसंग्रह हमें भार रूप मालूम हो। यदि सम्भव है तो उसके लिये आप किस प्रकार का कार्यक्रम आंकते हैं?

उत्तर—मानव का इतना विकास सम्भव तो है ही, साथ ही वह एक दिन होकर भी रहेगा भले ही इसमें पीढ़ियाँ लग जाँय। एक दिन हमारे पुरखा मनुष्य तक का मांस खा जाते थे पर आज का आदमी इस कल्पना से भी काँपता है। पशुओं में और बहुत से जंगलियों में बेटी बहिन का भी विचार नहीं किया जाता, पर आज के अधिकांश आदमी इससे कांपते हैं, बहुत से आदमी, मरने की नौबत आजायगी तब भी मांस न खायेंगे। इस तरह थोड़ा बहुत विकास आदमी का हुआ ही है, अगर सामूहिक रूप में अच्छी तरह कोशिश की जाय तो प्रश्न में बताया हुआ शेष विकास भी एक दो पीढ़ियों

मे ही हो सकता है । खैर ! देर सबेर आदमी में अक्ल आयगी और वह इतना विकास करेगा ।

इसके लिये हमें जो काम करना है उसके चार अंग हैं ।

१ -जन्म मे ही मनुष्य पर नीति और सदाचार के संस्कार डालना। उसे ऐसे ही लोगों की संगति में रखना जो सदाचारी नीतिमान है।

२-दुराचार अनीति की परिस्थिति दूर करना। जो आदमी कंगाल रहेगा उसका ईमान सुरक्षित रहना कठिन है इसलिये पूंजीवाद को नष्ट करके या कम करके सम्पत्ति के बटवारे की सुव्यवस्था करना होगी। समाज की कुरूढ़ियों आदि के कारण अगर दाम्पत्य की ठीक व्यवस्था न होगी तो व्यभिचार बढ़ेगा, सेवा और गुण की नहीं किन्तु धन की ही इज्जत ज्यादः की जायगी तो लोग धन-संग्रह की तरफ झुकेंगे। इसलिये समाज की इन परिस्थितियों को राजनैतिक और सामाजिक हर दृष्टि से सुधारना।

३-इस परिस्थिति के निर्माण के लिये मनुष्य को उपदेश देना, चर्चा द्वारा साहित्य द्वारा और भी अनेक तरह से समझा बुझाकर तथा दृश्य दिखाकर मनुष्य के विवेक को जगाना।

४-उपर्युक्त तीन उपायों से परिस्थिति सुधर जायगी। फिर भी जो थोड़ी बहुत अपवाद रूप में कमी रह जायगी उसे समाज की दंड व्यवस्था पूरी करेगी। आजकल भी दंड व्यवस्था है पर वह बहुत अधूरी और गलत राह में हैं। अपराधियों को जेल में डाल दिया जाता है और ऐसे लोगों के हाथ में छोड़ दिया जाता है जो मानवता की दृष्टि से कैदियों की अपेक्षा अधिक विकसित

नहीं होते। और वहां सिर्फ पशुबल और अहंकार का प्रदर्शनकर कैदियों की पशुता बढ़ाई जाती है। जब कि जेलों को मानस चिकित्सालय बनाने की जरूरत है। दंड के बारे में दूसरी जरूरत है समाज के पुण्य प्रकोप की। आज तो बहुत से लोग अपनी व्यभिचार कथा को तारीफ के रूप में भी कह जाते हैं। झूठ बोलकर दूसरे को ठग लेने को अपनी चतुरता समझते हैं, यह एक कला कहलाती है। अगर हमारा व्यक्तिगत नुकसान न हो तो हम चोर को चोरी करते देख सकते हैं, इस प्रकार समाज का पुण्य-प्रकोप बुझा हुआ है मग हुआ है उसे जगाना है। इन चार उपायों से नई दुनिया का निर्माण किया जासकता है। यही मैं यथाशक्ति करना चाहता हूं और इसी मार्ग में जगत् को प्रेरणा देना चाहता हूं।